चिन्मयी

नूपुरैर्विलसत्पादं कौस्तुभप्रभया युतम् ॥
द्युमत्किरीटकटककटिसूत्राङ्गदायुतम् ।
सर्वाङ्गसुन्दरं हृद्यं प्रसादसुमुखेक्षणम् ।
सुकुमारमभिध्यायेत् सर्वाङ्गेषु मनो दधत् ॥
—श्रीमद्भा० ११.१४.४०-४१

कमलादि कर हैं चरण विलसित नित्य नूपुरकी प्रभा ।
कान्ति कौस्तुभकी गलेमें जगमगाती जो लुभा ॥
कंगन किरीट औ करधनी भुजबंद बाँहों में सदा ।
हृद्य चितवन ध्येय मेरा रूप मृदु यह सर्वदा ॥
—भगवान् श्रीकृष्ण

Swami Bhagavatananda Giri

• प्राचीन-अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञान की प्रतिनिधि
• पुरुषार्थ प्रतिपादक
• प्रसन्न-गम्भीर पत्रिका

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति — सत्साहित्यप्रकाशनट्रस्ट

चिन्तामणि

संस्थापक : अनन्तश्रीविभूषित पू.पा. स्वामी श्री अखण्डानन्द जी सरस्वती महाराज

वर्ष ४ अंक २

★

सम्पादक :
ब्र. प्रेमानन्द 'दादा'
विश्वम्भर नाथ द्विवेदी
आनन्दकानन
सी.के. ३६/२०
वाराणसी - १
फोन : २६८३

वार्षिक मूल्य : चार रुपये मात्र
एक प्रति : सवा रुपया मात्र
विदेश में
वार्षिक मूल्य : छ: शिलिंग

संस्थापक
सत्साहित्यप्रकाशनट्रस्ट,
'विपुल' २८/१६
रिजरोड, मलाबार हिल
बम्बई - ६

Sri Ma Anandamayi Ashram VARANASI

★ विषयक्रम

CHINTAMANI

[ENGLISH]

श्रीहरिसूरिकृत

श्रीभक्तिरसायनम्

[संस्कृत मूलमात्र]

मूल्य : आठ रुपये मात्र

सौ वर्षोंसे दुर्लभ, संस्कृतका अद्भुत ग्रन्थ

जो अब प्रकाशित हुआ है

आपके लिए

संग्रहणीय

पण्डितोंके लिए विशेष उपयोगी

व्यासोंके लिए अमूल्य रत्न

सरलताके लिए

श्रीभक्तिरसायन-प्रपा

[विषमस्थल टिप्पणी]

मूल्य : दो रुपये

प्रकाशक

सत्साहित्य-प्रकाशन-ट्रस्ट

'विपुल'

२८/१६ रिजरोड, बम्बई-६

तुलसी - मानस - प्रकाशन की उपलब्धियाँ

★

१. संसार का सार (मू. रु. ३) आधुनिक खेलों, वैज्ञानिक साधनों जीव-जन्तुओं, वनस्पतियों आदि के द्वारा अध्यात्म शिक्षा का विवेचन।

२. ज्ञान साधना (मू. रु. २) लोनावला शिविर में पधारे हुए महापुरुषों द्वारा ज्ञानसाधना के प्रति संकेत।

३. विज्ञान से ज्ञान (मू. रु. १) ऐक्सरे इत्यादि आधुनिक उदाहरणों को लेकर अध्यात्मविद्या नवयुवकों तक पहुँचाने का सफल प्रयास।

४. वेदान्त नवनीत (मू. रु. १–५०) सन् १९६४ के अमृतसर के वेदान्त सम्मेलन में पधारे महात्माओंके प्रवचनों का सार।

५. वेदान्त का सरल बोध (मू. रु. १) वेदान्त के क्लिष्ट ग्रन्थों के सिद्धान्त बड़े ही सरल उदाहरणों में।

६. आध्यात्मिक पिक्टोरियल (हिन्दी व अंग्रेजी) (मू. रु. ३) ज्ञान की गम्भीर बातें सूत्र तथा चित्र द्वारा प्रस्तुत।

७. मुमुक्षु आध्यात्मिक उपन्यास (मू. रु. ५)।

८. मन की शान्ति (पद्य) (मू. रु. ४) अंग्रेजी मूल रचना 'पीस आफ माइण्ड का अनुवाद।

९. हमारी परम्परा (मू. रु. २) हमारी ऋषि-परम्परा क्या है और उसे जीवन में किस प्रकार उतारा जाय ?

१०. आराम सुख शांति और आनन्द (मू. ५० पैसे)।

११. अपनी ओर इशारा (मू. १ रु.) अपनी ओर आने के सूत्र रूप इशारे।

१२. आध्यात्मिक डायरी (मू. ५ रु.) सचित्र और दार्शनिक सूत्रों से परिपूर्ण दैनंदिनी।

१३. व्यावहारिक जीवन में परमात्मा (मू. ५० पैसे)। और

आध्यात्मिक मासिक

मनन

प्रति मास भारत के उच्चकोटि के विद्वानों के लेख एवं प्रख्यात संत-महात्माओं की अनुभव-पूर्ण वाणी का संकलन।

एक प्रति ४० पैसे

वार्षिक ४) रु. दो वार्षिक ७) रु. तीन वार्षिक १०) रु.
चार वार्षिक १२) रु. और पाँच वार्षिक १५) रु.

प्राप्ति-स्थल :

तुलसी - मानस - प्रकाशन, गुप्ता मिल्स एस्टेट, रे रोड, बम्बई–१०

॥ ॐ माँ ॥ ता-२०-२-७०

फरवरी, '७०
वर्ष : ४ अङ्क : २

चिन्तामणि

स्वस्त्ययन

स्वस्ति नो मिमीतामश्विना
भगः स्वस्ति देव्यदितिरनर्वणः ।
स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः
स्वस्ति द्यावा पृथिवी सुचेतुना ॥

(ऋग्वेद-मण्डल ५, सूक्त ५१)

अश्विन देवता हमारा अविनाशी कल्याण करें। भग देवता हमारा कल्याण करें। देवी अदिति हमारा कल्याण करें। स्वतन्त्र पूषा एवं शत्रुओंको भगानेवाले अथवा प्राणबलके दाता असुर हमारा कल्याण करें। द्यावा, पृथिवी जो कि शोभन प्रज्ञानसे विशिष्ट हैं, हमारे लिये कल्याणकारी हों।

वैश्वदेव-सूक्त

(ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १२८)

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम ॥ १ ॥

अग्निदेव ! मेरे संग्रामोंमें, यज्ञोंमें और आन्तरिक दुर्वृत्तियोंके शमनमें तुम्हारे अनुग्रहसे मेरा वर्चस्व स्थापित हो। हम अपने साधनोंसे तुम्हें प्रदीप्त करके तुम्हें परिपुष्ट करें। चारों दिशाएँ अर्थात् उनमें रहनेवाले मेरे सम्मुख नम्र हो जायँ। तुम्हारे स्वामित्वमें हम प्रतिकूलवर्ती वृत्तिरूप शत्रुओं, यज्ञ-विरोधियों और दुर्भावनाओं पर विजय प्राप्त करें।

टिप्पणी : 'अग्नि' शब्दकी नैरुक्त व्युत्पत्ति एवं अभिप्राय 'चिन्तामणि'के वर्ष ३ अंक ४ में दिया जा चुका है। यह अग्नि, देवता और परमेश्वर का वाचक है। 'विहव' शब्द संग्राम और यज्ञका बोधक है। यज्ञसे अन्तर्यज्ञ और बहिर्यज्ञ दोनों ही समझने चाहिए।

मम देवा विहवे सन्तु सर्व इन्द्रवन्तो मरुतो विष्णुरग्निः ।
ममान्तरिक्षमुरुलोकमस्तु मह्यं वातः पवतां कामे अस्मिन् ॥ २ ॥

मेरे यज्ञ एवं बाह्य-आन्तर संघर्षमें सभी देवता अर्थात् मरुद्गण, विष्णु एवं अग्नि इन्द्रयुक्त होकर मेरी ही सहायता करें। अन्तरिक्ष मेरे लिये विस्तीर्ण प्रकाशमय हो जाय। साथ हो मेरे लिये मेरी कामनाकी पूर्तिके लिए अनुकूल वायु प्रवाहित हो।

टिप्पणी : जैमिनीय ब्राह्मणमें कहा गया है कि इन्द्र जब वृत्रको मारनेके लिए उद्यत हुए, तब उन्होंने मरुतोंसे कहा—'तुम लोग सशस्त्र होकर मेरे चारों ओर क्रीडा करो, जिससे मैं निर्भय होकर इस पापी वृत्रासुरको मारूँ।' वहीं एक दूसरे स्थान पर कहा गया है कि ओज और वीर्य मरुत्का स्वरूप है। अन्यत्र कहा गया कि मरुद्गणने षड्रात्रव्यापी यज्ञका अनुष्ठान किया, इससे वे ओजिष्ठ, बलिष्ठ एवं वीर्यवत्तम होकर विजयी हुए। काठक-संहितामें कहा गया है कि मरुतोंकी संख्या उनचास है। ऐतरेय-ब्राह्मणमें कहा गया है कि प्राण ही 'मरुत्' हैं। ताड्य-ब्राह्मणमें मरुतोंको 'रश्मि' कहा गया है। तैत्तिरीय-संहितामें उन्हें वर्षाका हेतु कहा गया है। 'ये इन्द्रके साथ हमारी सहायता करें'—इसका अभिप्राय यह है कि ये हमारे लौकिक, वैदिक तथा आध्यात्मिक साधन-कर्ममें सहयोग दें।

विष्णु—काठ-संहितामें 'विष्णुको सब देवताओंसे उत्तम कहा गया है। माध्यन्दिनीय शतपथ-ब्राह्मणमें दिन और रातके अन्तराल कालको विष्णु कहा गया है। ताड्य-ब्राह्मणमें देवताओंके चरम रूपको 'विष्णु' कहा गया है—'अन्तो विष्णुर्देवतानाम्।' यह लोक विष्णुका विक्रमण अथवा उनके द्वारा क्रान्त है। षड्विंश-ब्राह्मणमें विष्णुको 'चक्रपाणि' भी कहा गया है। देवताओंके विजयका हेतु विष्णु ही है। ऋग्वेदमें विष्णु-सूक्तमें विष्णुकी स्तुति की गयी है। गोपथ-ब्राह्मणमें विष्णुको 'श्रोत्र' कहा गया है। वह आकाशके समान सबको वेष्टन करते हैं इसलिए विष्णु हैं। तैत्तिरीय-संहितामें विष्णुको 'शिपिविष्ट' कहा गया है। रश्मि या पशुमें विष्ट।

काठक-संहितामें 'उरुगाय' एवं मैत्रायणी-संहितामें 'वामन' शब्दका प्रयोग है। ऐतरेय-ब्राह्मणमें उन्हें 'देवताओंका द्वारपाल' कहा गया है। तैत्तिरीय-आरण्यकमें उन्हें 'हृदय' कहा गया है। ऐतरेयमें सब देवताओंको एवं तैत्तिरीयमें वीर्यको 'विष्णु' कहा गया है। आरण्यक एवं संहिताओंमें ऐसा वर्णन भी मिलता है कि विष्णुने ही अन्तरिक्षको विष्कम्भित एवं पृथिवीको धारण कर रक्खा है। विष्णुने ही अपनेको तीन प्रकारसे स्थापित किया है—पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं

स्वर्ग। 'यह विष्णु देवता इन्द्रके साथी हों'—इसका अभिप्राय है कि वे हमारे कर्माध्यक्ष इन्द्रकी सहायता करें।

मरुद्गणसे वातावरणकी अनुकूलता, विष्णुसे विश्वव्यापक दृष्टिसे कर्मानुष्ठान एवं अग्निसे तेजस्विता अभीष्ट हैं। तेजस्विताका अर्थ है—अन्यसे अभिभूत न होना एवं दूसरोंको अभिभूत कर देना। कर्मकी सम्पूर्तिके लिए इन सब दृष्टियोंकी अपेक्षा है।

निरुक्तमें 'मरुत्' शब्दकी व्युत्पत्तिके लिए उन्हें 'मितरावी', 'मितरोची' अथवा 'महद्रावी' कहा गया है।

मयि देवा द्रविणमा यजन्तां मय्याशीरस्तु मयि देवहूतिः।
दैव्या होतारो वनुषन्त पूर्वेऽरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः ॥ ३ ॥

देवगण! मुझे धन, साधन अथवा आराधनकी प्राप्ति करावें। मेरे अभिलषित फलकी प्राप्ति हो। देवताओं अथवा सद्गुणोंका आवाहन रूप यज्ञ सदा चलते रहें। देवानुग्रहभाजन दिव्यगुण-सम्पन्न मेरे होता दूसरोंके ऋत्विजोंसे बढ़-चढ़कर हों और देवताओंकी आराधना करें। हमारे शरीरकी हिंसा न हो सके और हमें शुभ फल अथवा सत् पुत्रकी प्राप्ति हो।

टिप्पणी: 'देवहूति' शब्दका अर्थ यज्ञ है। जिसमें देवताओंका आवाहन किया जाता है। यही विवेक कपिलकी जननी होती है।

मह्यं यजन्तु मम यानि हव्याकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु।
एनो मा नि गां कतमच्चनाहं विश्वे देवासो अधि वोचता नः ॥ ४ ॥

मेरे हविष्यके द्वारा ऋत्विज मेरे लिए देवताओंकी आराधना करें। मेरे मनके संकल्प अर्थात् अभीष्ट प्रार्थना सत्य हों। मैं किसी पापके संस्पर्शमें न जाऊँ अर्थात् पाप न करूँ। सभी देवता हमारे हितके लिए प्रवचन करें।

टिप्पणी: विद्वान् लोग मेरी वस्तुओंका प्रयोग मेरे हितके लिए करें। मनोरथ सत्य हों, पाप न हों और सत्संग प्राप्त होता रहे। 'मेरे संकल्प सत्य हों'—इसका एक भाव यह भी है कि मेरे मनमें झूठी-झूठी वस्तुओंकी इच्छाएँ न उठें। सायणाचार्यने अन्तिम चरणका अर्थ ऐसा किया है कि—'हे देवताओ! विवादास्पद वस्तुओंके सम्बन्धमें आप लोग मेरे प्रति पक्षपात करके भाषण करें। इसका अभिप्राय यह है कि देवता अपने भक्तका पक्षपात करता है।

देवीः षलुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वे देवास इह वीरयध्वम्।
मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन् ॥ ५ ॥

हे छः ऊर्वियो ! हमें बहुत-सा धन दो। हे विश्वेदेव ! इस विषयमें आप लोग भी अपना विक्रम प्रकट करें, अर्थात् जैसे हमें धन प्राप्त हो वैसा शक्तिशाली प्रयत्न करें। हमारी प्रजा और सन्तान हमें न छोड़े। हमारा शरीर भी हमें न छोड़े—साथ देता रहे। हे स्वामी ! हम कभी शत्रुके वशमें न हों अथवा शत्रु हमें कभी मार न सकें।

टिप्पणी : छः ऊर्वियोके नाम इस प्रकार हैं—द्युलोक, पृथिवी, अहः (दिन), रात्रि, आपः (जल) और ओषधियाँ।

अग्ने मन्युं प्रतिनुदन् परेषामदब्धो गोपाः परि पाहि नस्त्वम्।
प्रत्यञ्चो यन्तु निगुतः पुनस्ते मैषां चित्तं प्रबुधां वि नेशत् ॥ ६ ॥

हे अग्निदेव ! आप शत्रुओंके क्रोधका तिरस्कार करते हैं और दूसरे किसीके द्वारा तिरस्कृत नहीं होते। आप सर्वदा ही गोपरूप अर्थात् रक्षक हैं। सब ओरसे हमारी रक्षा कीजिये। हमारे शत्रु पीछे लौट जायँ और चीत्कार करते हुए पुनः अपने घरमें भाग जायँ। जब हमारे शत्रु जागने लगें तो उनका ज्ञान-साधन मन एक साथ ही नष्ट हो जाय।

धाता धातॄणां भुवनस्य यस्पतिर्देवं त्रातारमभिमातिषाहम्।
इमं यज्ञमश्विनोभा बृहस्पतिर्देवाः पान्तु यजमानं न्यर्थात् ॥ ७ ॥

जो धाताओंका भी धाता अर्थात् सृष्टाओंका भी स्रष्टा और जो सम्पूर्ण भुवनका रक्षक है उस त्रिभुवनपति, सर्वभयहारी, शत्रुपराभवकारी देवकी मैं स्तुति कर रहा हूँ। दोनों अश्विनीकुमार, बृहस्पति तथा अन्य देवता इस यज्ञकी रक्षा करें। इसे सफल बनायें। तथा पाप और निरर्थकतासे बचायें।

उरुव्यचा नो महिषः शर्म यं सदस्मिन् हवे पुरुहूतः पुरुक्षुः।
स नः प्रजायै हर्यश्व मृलयेन्द्र मा नो रीरिषो मा परा दाः ॥ ८ ॥

आपकी व्याप्ति विस्तीर्ण है और आप महान् एवं पूज्य हैं। बहुतसे यजमान यज्ञोंमें आपका आवाहन करते हैं। आपके बहुत-से निवास-स्थान हैं अथवा बहुत-से लोग आपकी स्तुति करते रहते हैं। आप परमैश्वर्य-शाली इन्द्र देवता हैं और यह आपके आवाहनके लिए ही किया गया है। आप हमें सुखी कीजिये और हे हर्यश्व इन्द्र ! हमारी और हमारी प्रजा

को रक्षा कोजिये। हमें दुःख मत दोजिये और हमारा परित्याग मत कोजिये।

ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामहे तान्।
वसवो रुद्रा आदित्या उपरिस्पृशं मोग्रं चेत्तारमधिराजमक्रन् ॥ ९ ॥

जो हमारे शत्रु हैं वे भाग जायें अथवा अपने स्थानसे च्युत हो जायँ। पूजित एवं प्रसन्न इन्द्र तथा अग्निके द्वारा अनुगृहीत होकर हम उन्हें अपबाधित कर रहे हैं। वसु, रुद्र, आदित्य देवता मुझे उन्नत पदपर पहुँचायें। साथ ही उद्रिक्तबल, सर्वज्ञ एवं सबका अधिराज बनायें।

टिप्पणी : **रुद्र**—रुद्र देवताका वर्णन वेदोंमें बहुधा आता है। ऋग्वेदके ७।४।१३ में स्थिरधन्वा, क्षिप्रेपु, दानादिगुणयुक्त, स्वधावान्, अपराजित, विजयी एवं तीक्ष्णायुध कहा गया है। यजुर्वेदमें इसके प्रतिपादक बहुसंख्यक मन्त्र हैं। तैत्तिरीय-आरण्यकमें प्रभाजमान् एवं वैद्युत रुद्र-रुद्राणियोंका वर्णन है। इनकी संख्या ग्यारह है। वहीं यह भी कहा गया है कि ये धनुष-बाण धारण करते हैं और समग्र विश्व ही इनका रूप है। इस जलीय विश्वपर रुद्रकी अत्यन्त दया रहती है। वहाँ यह भी कहा गया है कि 'हे रुद्र! तुमसे बढ़कर ओजस्वी और कोई नहीं है—न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति।' तैत्तिरीय-ब्राह्मणमें कहा गया है कि रुद्रका भाग यज्ञका शेष है। मध्यन्दिन शतपथ-ब्राह्मणमें कहा है कि रुद्रके आशयसे सूर्यकी उत्पत्ति हुई। वह स्वयं ही अपने भागसे उसको तृप्त करता रहता है। मैत्रायणी-ब्राह्मणमें इसे क्रूरतम देवता कहा गया है।

माध्यन्दिन-शतपथमें यह वर्णन मिलता है कि इस पुरुषके शरीरमें जो दस प्राण हैं और ग्यारहवाँ आत्मा है—वही 'रुद्र' है। जब यह ग्यारहों इस शरीरसे उत्क्रमण करते हैं, तब रोदन कराते हैं। इस रोदनके कारण ही इनकी 'रुद्र' संज्ञा है (९।१।१।८)। जैमिनीय-ब्राह्मणमें इनकी संख्या चौवालीस लिखी है। शतपथसे मिलता-जुलता वर्णन जैमिनीय-ब्राह्मणमें है। षड्विंश-ब्राह्मणमें रुद्रको 'शूलपाणि' कहा गया है। तैत्तिरीय-आरण्यकमें सर्व 'रुद्र' है, पुरुष 'रुद्र' है—ऐसा कहा गया है; क्योंकि यह वैराग्यका देवता है।

वसु—'वस्' आच्छादने। विभागावस्थित तीन स्थानोंको आच्छादित करनेके कारण इन्हें 'वसु' कहा जाता है। पृथिवीस्थान, मध्यस्थान एवं द्युस्थान—इनका निवास है। क्रमशः अग्नि, इन्द्र एवं आदित्य रश्मिके रूपमें ये तीनोंमें रहते हैं। वेद इन्हें वसु अर्थात् धनका दाता कहते हैं।

तैत्तिरीय-ब्राह्मणमें इनकी संख्या आठ बतायी गयी है। ये बड़े सौम्य स्वभावके हैं। माध्यन्दिनीय शतपथ-ब्राह्मणमें कहा गया है कि अग्नि, पृथिवी, वायु,

अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यु, चन्द्रमा और नक्षत्र—इनकी संज्ञा 'वसु' है। ये सबको वासित करते हैं इसलिए इनकी संज्ञा वसु है। जैमिनीय-ब्राह्मणमें इनकी संख्या चौबीस है। तैत्तिरीय-संहितामें प्रजा और पशुको भी 'वसु' कहा गया है। काठ-संकलनमें इन्हें 'कल्याणकारी' एवं 'धनप्रद' के नामसे स्मरण किया गया है। प्रजापतिने इनकी सृष्टि की है। इनकी पत्नी गायत्री है। ये अन्तरिक्षमें रहते हैं। धनिष्ठा इनका नक्षत्र है। ब्राह्मण, आरण्यक, संहिता आदिमें इनका प्रभूत वर्णन प्राप्त होता है।

आदित्य—निरुक्तमें जो रसका आदान करता है और ग्रह-नक्षत्र आदिकोंकी ज्योतिको अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है उसको 'आदित्य' कहते हैं। यह 'आङ्' पूर्वक 'दा' धातुका रूप है, अथवा भासासे आदीप्त है। इसे अदितिका पुत्र भी कहा गया है। यह 'अदिति' क्या है ? निरुक्तमें इस शब्दका अर्थ 'अदीन' किया गया है—जिसमें दैन्य न हो, वही देवमाता होती है अर्थात् उसका पुत्र देवता होता है। गोपथ-ब्राह्मणमें ऐसा वर्णन मिलता है कि अदितिने पुत्रकी कामनासे ओदन पकाया। यज्ञशेषका प्राशन करनेपर उसने गर्भ धारण किया। उसीसे आदित्य उत्पन्न हुए। काठ-ब्राह्मणमें कहा गया है कि आदित्य देवताओंका प्रिय शरीर है। मैत्रायणी-ब्राह्मणमें 'श्रेष्ठ-रश्मि' के रूपमें स्मरण किया गया है। तैत्तिरीय-संहिताका कहना है कि यह नित्य नूतन है। भिन्न-भिन्न ब्राह्मणोंमें इसको संख्या अलग-अलग लिखी है। यही संवत्सरात्मक होकर तपता है। इसके उदयसे राक्षस भाग जाते हैं। यही वृष्टिका हेतु है। यही इन्द्र है और यही सविता है। यह एकाकी विचरण करता है। यह स्वर्गिम है, अग्नि है और कवि है। यह पापोंका नाशन एवं प्राणियोंका प्राण है। यही शुक्र एवं तेजका दाता भी है। यही दिन-रातका कर्ता है। इसे स्वर्ग, गोप, धर्म, इन्द्र एवं ब्रह्मचर्यका दाता कहा गया है। यह कान्ति और आरोग्य देता है। यह जड़ और चेतनकी आत्मा है। जब यह अस्त होता है तब यह श्रद्धा रूपसे ब्राह्मणमें, दूधके रूपसे पशुओंमें, तेजरूपसे अग्निमें, ऊर्जारूपसे ओषधियोंमें, रसरूपसे जलमें और स्वधारूपसे वनस्पतियोंमें प्रवेश करता है। यह विवेकका देवता है—हंस। यह हृदय और धर्म—दोनों है। चक्षु इसका निवास है। यह अन्धकारको निवृत्त कर देता है। एक दिनमें ही यह सारी ऋतुओंको प्रकाशित कर देता है। वेदके प्रायः सभी भागोंमें 'आदित्य' का वर्णन मिलता है।

●

रस-स्वरूप : श्री राधा-माधव

(*अनन्त श्री स्वामी करपात्रीजी महाराज*)

लोक-व्यवहारमें यह देखनेमें आता है कि गति गतिमान्‌के अधीन होती है, परन्तु जब गतिमें वेग आ जाता है तब गतिमान् गतिके अधीन हो जाता है। ठीक इसी प्रकार लीला नायकके पराधीन रहती है परन्तु जब लीलाका रस उद्रिक्त हो जाता है तब लीलानायक भी उसके अधीन हो जाता है।

युगलके हृदयमें प्रेम और काम नामके दो समुद्र समुद्रिक्त होते रहते हैं। प्रेमका उद्रेक होने पर मोह होता है और कामका उद्रेक होने पर संज्ञान। यही दोनों रसिक-युग्मके हृदयको विवश किये रहते हैं। इससे दोनोंके हृदयमें निरन्तर मोह एवं संज्ञानकी परम्परा चलती रहती है[1]।

जैसे अत्यन्त शीतल मानस-सरोवरमें स्थित हिम-कणिका पिपासासे व्याकुल हो जाय, उसी प्रकार प्रिया-प्रियतम प्रेम-रसमें निमग्न रहने पर भी प्रेममें स्थित प्रेमस्वरूप युगल-किशोर प्रेम-तृष्णासे व्याकुल रहते हैं[2]।

सविशेष प्रेमका स्वरूप अनादि, अनन्त, एकरस, नित्यनूतन एवं उज्ज्वल है। साथ ही, मादव्य, स्निग्ध और स्वच्छन्द भी है। उसीकी परिणामरूपा अथवा विविध अवस्था-रूपा कामादि लीला उससे अभिन्न होने पर भी भिन्नके समान भासती है। जैसे कुण्डल, हार आदि स्वर्णरूप रहते हुए ही पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। यही ललित-ललित दिव्य लीला-विलास, दिव्यदम्पतीरूप प्रेमतत्त्वकी

---

१. प्रेमस्मराख्यौ द्वौ सिन्धू समुद्रिक्तौ द्वयोर्हृदि।
एकोद्रेके भवेन्मोहो संज्ञानमपरोद्गतौ॥
ताभ्यां द्वयो रसिकयोर्विवशीकृतचेतसोः।
मोहसंज्ञानसातत्यं नित्यमेव प्रदृश्यते॥

२. मानसान्तर्गता यद्वत् तृषार्ता हिमपुत्रिका।
हार्दतृष्णाकुलौ तद्वद् हार्दस्थौ हार्दरूपिणौ॥

शोभामें चार चाँद लगा देते हैं, जैसे तन्तु पटमें। इसी कारणसे लीला-विलाससे उल्लसित प्रेम-तत्त्व ही स्मर, केलि, मन्मथ एवं काम आदि नामोंसे कहा जाता है। यह स्वच्छन्द प्रेमात्मा काम प्राकृत-कामकी अपेक्षा विलक्षण है और साक्षात् मन्मथ-मन्मथ श्रीकृष्णके आश्रित होनेके कारण उनका स्वरूप ही है। ऐसे मन्मथसे आविष्ट भगवान् ही काम-बीजके अर्थ हैं और उन्हें ही 'साक्षात्-मन्मथ-मन्मथः' कहा गया है। काम-बीजका स्वरूप है—क्लीं। शास्त्रमें इसकी व्याख्या इस प्रकार दी गयी है—

ककार 'कृष्ण' है, लकार 'राधा,' ईकार 'कामकला', उसका विलास 'विन्दु'। ककारके अर्थ हैं—प्रेमसार अमृत-समुद्र केशव। लकारका अर्थ है—राधिका। वे उनके माधुर्य-सार अनन्त महासमुद्र-स्वरूप हैं। ईकारका अर्थ है—अपूर्व काम जो प्राकृत कामको अनायास मोहित कर लेता है। जब दिव्य दम्पती उसके उल्लास-रसके आवेश-वश हो जाते हैं तब परमानन्दमग्न दोनोंके जो आलिंग-नादि उद्भट विलास हैं, वह 'बिन्दु' पदार्थ है[1]।

इससे यह सिद्ध होता है कि जैसे भगवदाश्रित काम प्रेमरूप है, वैसे ही भगवदालम्बन काम भी प्रेमरूप ही है; अर्थात् जहाँ भगवान् प्रेमी हैं वहाँ तो काम प्रेम है ही, जहाँ भगवान् प्रियतम हैं वहाँ भी काम प्रेम ही है। जहाँ प्राकृत आलम्बन और आश्रय होता है वहीं काम काम होता है। यदि कोई दीपक समझकर भी चिन्तामणिकी ओर प्रवृत्त हो तो उसे चिन्तामणि ही मिलेगी। ठीक इसी प्रकार, कोई भगवान्को प्रियतम समझकर काम बुद्धिसे भी उनकी ओर प्रवृत्त हो तो भगवत्प्राप्तिमें कोई व्याघात नहीं है। फिर उस प्रेमको काम क्यों कहते हैं? इसलिए कि उस प्रेमसे कामोचित क्रिया सम्पन्न होती है। भगवद्-विषयक प्रेम नित्य-नूतन होनेके कारण लौकिक प्रेमसे विलक्षण है;

---

१. ककारः कृष्णरूपः स्याल्लकारश्चापि राधिका।
ईकाराख्या कामकला तद्विलासस्तु चन्द्रदः॥
प्रेमसारामृताम्भोधिः ककारार्थस्तु केशवः।
तन्माधुर्यैक-साराब्धिर्लकारार्थस्तु राधिका॥
ईकारार्थः स्मरोऽपूर्वः साक्षान्मन्मथमोहनः।
तदुल्लासवशावेश-वशयोरुद्भटं मुदा॥
संश्लेषादि-विलासात्मा चन्द्रकार्थप्रकीर्तितः॥

क्योंकि लौकिक प्रेमका अन्त विरसतामें होता है। भगवद्-विषयक काममें प्रेम-तृष्णाकी सतत वृद्धि होनेके कारण उसको नित्य-नूतन स्वीकार किया गया है। जैसा कि कहा गया है—'काम-मेघ प्रीतिरूप कल्पलताको रससे सींचता है। रसिकोत्तंस उसीके द्वारा रसकी सम्पुष्टि करते हैं[1]।'

जैसे दिव्य दम्पतीकी प्रीतिलता काम-मेघके द्वारा सेचन प्राप्त करके पुष्ट एवं आस्वादित होती है, वैसे ही प्रेम-काममयी लीलासे सखियोंकी प्रेमलता सम्पुष्ट होती है। जैसे प्राणको भोजन प्राप्त होनेसे इन्द्रियाँ तृप्त होती हैं तथा लताका मूल सेचन करनेसे पल्लवदल भी सरस हो उठते हैं, वैसे ही श्यामाश्यामकी काम-क्रीडासे ही सखियोंको भी तृप्ति प्राप्त होती है। रसिकाचार्योंने कहा है—प्रिया-प्रियतमके संगमसे उद्‌भूत सुरताम्बुजके सौरभसे सखियाँ उन्मद हो जाती हैं और उसका पुनः-पुनः आस्वादन करके प्रमुदित होती हैं। लीलारसमें उन्मत्त एवं तन्मय सखियोंको भाव-समाधि लग जाती है। और वे उन्हींको देखती, बोलती एवं जानती हैं। युगलका लोकोत्तर प्रेम ही वृन्दावनके रूपमें स्थित है, इसलिए वही रसका स्थायीभाव है। कहा भी है—वन रसात्मा है, प्रीति कल्पलता है, श्याम-गौर तेज पुष्प है। प्रेम तत्त्व ही श्यामाश्यामके रूपमें अभिव्यक्त है। उनके पदाम्बुजके प्रसाद-लेशका अनुग्रह-भाजन ही उसे प्राप्त कर सकता है। अधिक क्या कहें? वृन्दावन और वहाँकी सभी वस्तुएँ तथा सहेलियाँ प्रेम-रसरूप ही हैं। भक्तगण उन्हींका अनुसरण करते हैं; क्योंकि उनका एकमात्र अनुग्रह ही भक्तोंका जीवनाधार है।

कोई-कोई महानुभाव ऐसा कहते हैं कि श्रृंगार-कल्पतरुके सम्भोग और विप्रलम्भ—दो दल हैं। इसलिए उसकी पुष्टि और प्रभाव किसी एकके द्वारा नहीं होती। यही कारण है कि सारस नित्यसंयोगका प्रतीक है। और चक्रवाक विप्रलम्भका। सारस वियोग-दशामें क्षण भर भी प्राण धारण करनेमें असमर्थ होकर मर जाते हैं। जैसा कि कहा है—मनुष्यलोकमें निष्कपट प्रेमका निवास नहीं है। यदि वह हो तो प्रेमीको विरह कैसे हो। कदाचित् विरह हो भी जाय तो प्रेमी जीवित कैसे रहेगा? आश्चर्य है कि चक्रवाक ज्वाला-जटिल विरह-संतापानलका पान करते हुए भी जीवित रहते हैं, इसीसे उनके प्रेम-रसपर

---

१. प्रीतिकल्पलतायास्तु रसदो मदनाम्बुदः।
रसं हि रसिकोत्तंसो तमाजीव्यैव पुष्पति ॥

सन्देह करके सारस-पत्नीने उनसे प्रश्न किया था। सारस-पत्नी लक्ष्मणाने प्रश्न किया—

'सखि चक्रवाकी! प्राणघाती वियोग होनेपर भी तुम्हारे प्राण निकल क्यों नहीं जाते या तुम्हारा हृदय फट क्यों नहीं जाता? घनान्धकारमयी रात्रिमें जबकि मेघ भयंकर गर्जन-तर्जन करते होते हैं, बिजली चमकती होती है, मेढक टर्र-टर्र करते होते हैं; विरह-व्यथासे तुम्हारा हृदय फट नहीं जाता, अवश्य ही वह वज्रसे बना हुआ है। ऐसी अवस्थामें भी तुम्हारे नेत्र चमकते रहते हैं, गीले नहीं होते, निर्लज्ज-भावसे अपने प्रियतमको देखती रहती हो। यह तुम्हारा क्या प्रेम है?'

चक्रवाकीने उत्तर दिया—'सखि! तुम्हारा यह कथन सर्वथा सत्य है कि मेरा हृदय वज्र है, अन्यथा मैं विरह-विषानलका पान करके भी अपने हृदय और प्राणोंकी रक्षा कैसे कर पाती? वस्तुतः मैं निष्ठुर हूँ तथापि प्राणेश्वरके विरहमें विषम कालानलोपम व्यथाका सहन करके भी प्राणधारण करना उतना आश्चर्य नहीं है जितना कि कल्पकोटिके समान उस अन्धकार-मयी रात्रिको व्यतीत करना। परन्तु सखि! उनसे भी बढ़कर परमाश्चर्यमय तो यह है कि इतना ताप सहनेके बाद भी जो प्रियतमके मिलनका सुख होता है, तीव्र तापसे द्रुत और घुत हृदयमें जो सुखका समुद्र उमड़ता है, वह देखनेमें स्पष्ट दुःख होनेपर भी अवर्णनीय है और सखि! उसे तुम नहीं जानती हो; क्योंकि तुम्हें अपने प्रियतमके साथ नित्य-संयोग प्राप्त है।'

दिव्य दम्पती श्री राधा-माधव पल-पल आत्मा, मन, वाणी, शरीर और इन्द्रियोंसे सर्वांगीण मिलनका अनुभव करते रहते हैं, तथापि उन्हें चक्रवाक-दम्पतीकी अपेक्षा कोटि-कोटि गुणित तीव्र तापकी अनुभूति होती है। इसीसे उसके बाद उन्हें अनन्त गुणित आलिंगन-रसका आस्वादन होता है। क्षण-क्षणमें सारस-दम्पतीकी अपेक्षा अनन्तगुणित सुख और क्षण-क्षण चक्रवाक-दम्पतीकी अपेक्षा अनन्त-गुणित दुःखकी अनुभूति होती है।

चक्रवाकीने आगे कहा—'सखि लक्ष्मणे! जिसने वियोगमें प्रियतमके दुःसह विरहका तीव्र ताप अनुभव नहीं किया, उसे दूसरेके दुःखका ज्ञान भी क्या होगा! जो उसे ठीक-ठीक जानती है वही अपने वज्र-विषम चित्तसे उसको समझ सकती है। तुम अपने प्रियतमके वियोगमें तत्काल शरीर छोड़ देती हो, इसलिए वियोगान्तर रसका परिपाक कैसा होता है, यह तुम्हें ज्ञात नहीं है।'

सम्भोग और विप्रलम्भ (संयोग और वियोग)—दोनों श्रृंगारके ही अंश हैं। लोक-व्यवहारमें परस्पर विरुद्ध होनेके कारण दोनों एक साथ

एक स्थानमें नहीं रह सकते। भगवान् समस्त परस्पर-विरोधी धर्मोंके आश्रय हैं इसलिए उनमें अणुसे अणु और महान्से महान् भावोंके समान दोनोंकी युगपद् स्थिति होती है। इसीसे उनमें दोनों अवस्थाओंका ही सामञ्जस्य है; क्योंकि दोनों ही शृंगार-रस सार-सर्वस्वके समुद्बुद्ध समुद्वेलित रूप हैं। जैसाकि कहा है—'श्री श्यामाश्याम दोनों आत्मा, मन, बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, शरीर, प्रेमपुलकित रोम-राजि—इन सबसे सर्वदा मिलित रहते हैं। रसोद्रेक एवं समावेशसे परमानन्द-मग्न रहते हैं, तथापि दोनों विरह-दुःखके समुद्रमें भी डूबते-उतराते रहते हैं। क्या आश्चर्य है?—सदा संपृक्त और सदा विरह-तप्त। क्यों न हो, सम्भोग एवं विप्रलम्भ—दोनों सदा उनकी पूजा करते रहते हैं। वे सदा रसावेशसे सम्मिलित रहकर भी एक-दूसरेसे आलिंगनके लिए नित्य उत्कण्ठित तथा व्याकुल रहते हैं। उनका आश्लेष भी विश्लेषके समान है और विश्लेष भी आश्लेषके। वस्तुतः यही परम रस है। प्रश्न यह है कि ऐसा कैसे सम्भव है? जैसे चन्द्रमासे चन्द्रिका और जलसे तरंग संयुक्त होने पर भी वियुक्त और वियुक्त होनेपर भी संयुक्त—ऐसा ही समझना चाहिए। सम्भोग-विप्रलम्भ—अम्भो-निधिके तरंग हैं और विप्रलम्भ सम्भोग-सिन्धुके। भावोद्रेकसे दोनोंका परस्पर परिवर्तन होता रहता है। जैसे रसोद्रेक होनेपर माधव राधिका एवं राधिका माधव हो जाते हैं, वैसे ही सम्भोग-विप्रलम्भका भी समझना चाहिए।[1]

वियोग श्याम है, संयोग राधा। दम्पतीमें निरन्तर परस्पर परिवर्तन होता रहता है। राधा भास्वर-दृष्टि है। दृष्टि-अतीत श्याम ज्योति है। दोनोंकी एकात्मता ही मिथुन अथवा युगल रूप है। यही न्याय संयोग-वियोगके सम्बन्धमें भी समझना चाहिए।

सकलगुण-वृन्दाबन वृन्दाबन ही उज्ज्वल रस है। वृन्दाबन-विहारी राधा-माधव ही सम्भोग एवं विप्रलम्भ हैं। वृन्दाबन अंगी उज्ज्वल रस है। वह नित्य एवं दलद्वयात्मक है। उसीमें गौर-श्याममय तेजोयुग्म आनन्दसे क्रीड़ा करता रहता है। लोक-व्यवहारके समान ही यहाँ भी देश, काल तथा वस्तुके व्यवधानसे स्थूल वियोग भी होता है। इसीसे हार मुक्तावली आदिके व्यवधान भी दूर किये जाते हैं। कञ्चुकीका अन्तर तो दूर रहा रोमाञ्च भी सह्य नहीं है।

---

१. एकात्मनोर्विग्रहयोस्तयोर्द्वयोः, यथैव रूपं परिवर्ततेऽनिशम्।
तथैव संयोगवियोगयोरपि स्वरूपभेदः परिवर्तते सदा॥

श्रीमद्भागवतमें वर्णन आता है कि श्रीकृष्णको महलमें दूरसे आते देखकर पटरानियाँ अपने आसन और आशयसे भी सहसा उठ खड़ी होती थीं। यहाँ देशकी दूरी मिटानेके लिए 'आसनसे उठना' है और वस्तुका व्यवधान मिटानेके लिए आशय अर्थात् अन्तःकरणोपलक्षित पञ्चकोशसे ऊपर उठनेका वर्णन है। प्रियतमसे तादात्म्य प्राप्त करके वे सर्वावरण-रहित एक हो जाती हैं। प्रियतमको निहारने या उनके रसास्वादनके समय निमेषोन्मेष-कृत काल-व्यवधान भी असह्य हो जाता है। भागवतमें स्थान-स्थानपर नेत्रमें उठने-गिरनेवाली पलक बनानेवाले ब्रह्माको उपालम्भ दिया गया है; क्योंकि प्रियतमके दर्शनमें बाधा डालनेवाली वस्तु बनाना बुद्धिमत्ताका काम नहीं है। प्रेम-मर्मज्ञ वैचित्त्यकृत सूक्ष्मतम वियोगका भी अनुभव करते हैं। जैसे अत्यन्त प्रकाशमें दृष्टि-शक्ति मूच्छित हो जाती है, वैसे ही अतिशय प्रेमसे अथवा उसकी सूक्ष्मतासे प्रेम ही विप्रलम्भका रूप धारण कर लेता है।

'मूर्तिमान रस दिव्य दम्पती राधा-माधव वियोगकी कल्पना मात्रसे ही मानो प्रलयानल-से सन्तप्त होने लगते हैं। जैसे चकोर सस्नेह नेत्रोंसे पान करता हुआ-सा चन्द्रमाको निहारता है, वैसे ही रस-नियन्त्रित रसिक-युग्म भी परस्पर प्रेमसे देखते हैं। सतत निर्निमेष नयनोंसे एक दूसरेके मुखारविन्दमधुका संसेवन करते रहनेपर भी उन्हें तृप्ति नहीं होती; क्योंकि वे परमानन्दसे भरकर प्रीतिकी पराकाष्ठा पर पहुँच जाते हैं। उनके स्वभावमें पलक गिरनेके प्रति भी असहिष्णुता है। दोनों ही रसके लोभी हैं और प्रेमार्त्ति-ज्वालाका संक्रमण होनेपर अत्यन्त आर्त एवं दीन हो जाते हैं। रस-निधि माधव प्रेयसीके मुखारविन्द-सौन्दर्यमकरन्दके लोभी मिलिन्द हैं और वे रसाविष्ट ही रहते हैं। रस-निष्ठ मधुव्रत कृष्ण एक क्षणके लिए भी कहीं नहीं जाते। वे मकरन्दामृत पानके लिए परमार्त्तिसे व्याकुल रहते हैं; क्योंकि पलकोंका सम्पुट बारम्बार नेत्र-भ्रमरको बाहर निकलनेसे रोक लिया करते हैं। वे अपनी प्रेयसीके कानोंमें नील-कमल-कुण्डल, नेत्रोंमें अंजन तथा वक्षःस्थल पर दिव्य कस्तूरिका बनकर निवास करते हैं तथापि तृप्ति नहीं होती। वे मानो स्वयं उनके अन्तरंगमें प्रवेश करना चाहते हों।[1] वे शरीरसे शरीर, आत्मासे आत्मा, मनसे मन एवं प्राणोंसे प्राणोंका आनन्द-समालिंगन करके भी तथा नेत्रोंसे नेत्रोंका स्पर्श

---

१. तन सौं तन मन सौं जु
मन मिले अरु नैन।
तीव्र प्रेमको रूप यह
तऊ हिये नहि चैन॥

करते हुए भी तृप्त नहीं होते; क्योंकि परम एकताकी पिपासा व्याकुल करती रहती है।'

मान भी वियोगके कारणके रूपमें प्रसिद्ध है। वह सकारण और निष्कारण दोनों ही प्रकारका होता है। इस प्रेम-रस-महोदधि वृन्दावनमें स्वयं योगमाया ही ऐसे-ऐसे निकुञ्ज भवन उपस्थितकर देती हैं जिनमें प्रवेश मात्रसे ही मानका उदय हो जाता है।

'मानकुञ्जमें प्रवेश करने मात्रसे ही प्रेयसीके भ्रुकुटि-तट कुटिल हो जाते हैं और प्रेयान्को पीड़ार्दित करने लगते हैं। रसिक-शिरोमणि श्रीकृष्ण अकारण भौंहें टेढ़ी देखकर साध्वस भय एवं परम दैन्यको प्राप्त होकर मानापनोदनके लिए पादस्पर्श-परायण हो जाते हैं। वे कहने लगते हैं कि 'सुन्दरि! जिसने अपना सर्वस्व आपके चरण-कमलोंमें समर्पित कर दिया है, उसके प्रति ऐसा कोप करना क्या उचित है? तुम मेरी प्रियतमा, प्राणेश्वरी, हितमयी कामेश्वरी हो। तुम्हारा हृदय करुणाका समुद्र है। मुझपर करुणा करो।' रसार्णवा प्रेयसी अपने प्राण-प्रेष्ठकी इस वचन-रसमाधुरीका पान करके रसोल्लास-वश हो जातीं हैं और तत्क्षण उनके वक्षःस्थलसे लग जाती हैं। उनके नेत्र स्नेह भरी तिरछी चितवनसे तरंगायित होने लगते हैं और वे प्रियतमके वशमें हो जाती हैं। मानिनीके मानोद्रेककी दशामें रस-सिन्धु अन्तर्हित हो जाता है। सखियाँ सुधा-मधुर वचन-चातुरीसे सुखावह भावको पुनः अभिव्यञ्जित कर देती है एक-दूसरेके हृदयमें दोनों समाये रहते हैं। दोनों प्रेम-सुधाके लोकोत्तर महा जलनिधि हैं। सखियोंकी वचन-रचना-चातुरीसे नितान्त प्रोद्वेलित होकर लता-निकुञ्जमें मिल जाते हैं।'

कभी-कभी प्रियतम प्रेयसीके परमाद्भुत सौन्दर्य, निरुपम लावण्य, अतुलनीय माधुरी एवं असीम सौभाग्य देखकर लोकोत्तर प्रेम-सिन्धुमें निमग्न हो जाते हैं। शरीरमें कँपकपी होने लगती है और मोह-दशाको प्राप्त हो जाते हैं। प्रियतमाकी ऐसी अनुपम अवस्था देखकर सरस-हृदया रासेश्वरी अपनी अधर-सुधाका पान कराकर स्वस्थ करती हैं। प्रियतम प्रेयसीके नित्य-नूतन, रसाल, दिव्य एवं परिपक्व बिम्बाफलके सदृश अधरका समास्वादन करके भी नहीं अघाते। रसिक-शिरोमणि रसावेशके वशमें हो जाते हैं और दीन होकर परम प्रेमसे अत्यन्त दुर्लभ परम रसकी याचना करने लगते हैं। परन्तु वह रसालया, रसासक्ता, रम्या नागरी रसावेशके वश होकर पुनः मानिनी हो जाती है। उनकी यह मान-दशा देखकर कृष्णका मानस स्नेहार्द्र हो जाता है और वे विरह-व्याधिके कारण

समुद्रिक्त दुःख-समुद्रमें डूबने-उतराने लगते हैं। कातरताके कारण उनके धैर्यका लोप हो जाता है। अपने प्राण-प्यारेकी यह दशा देखकर प्यारी जी विस्मित हो जाती हैं तथा स्नेह-व्याकुल बाहोंसे उन्हें वक्षःस्थलसे लगा लेती हैं। इस प्रकार परमानन्द-रस निर्भर-चित्त प्रिया-प्रियतमकी रात्रि रसोद्रेकवश क्षणके समान बीत जाती है।

प्रेम-वैचित्त्य दशामें वियोगकी अनुभूति उभर कर प्रखर हो जाती है। इसलिए संयोग-सुखकी अनुभूति लुप्त हो जाती है। यही कारण है कि दोनोंका एक साथ अनुभव नहीं होता। जहाँ दोनोंका साथ-साथ अनुभव होता है, वहीं उभयात्मकता होती है। रसिक महानुभावोंने प्रेम-वैचित्त्य-दशाका इस प्रकार वर्णन किया है—

अङ्कालिङ्गनशालिनी प्रियतमे
हा प्रेष्ठ हा मोहने-
त्याक्रोशत्यतिकातरातिमधुरं
श्यामानुरागोज्ज्वला ।
व्यामोहादतिविह्वलं निजजनं
कुर्वन्त्यकस्मादहो
काचित् कुञ्जविहारिणी विजयते
श्याममणिर्मोहिनी ॥

प्रियतम माधव वक्षःस्थलसे लगे आलिंगन कर रहे हैं। एकाएक अनुरागोज्ज्वला श्यामा अति कातर, अति मधुर स्वरमें पुकारने लगीं—हा! प्रेष्ठ! हा! मोहन! आश्चर्य है! इस चिल्लाहटको सुनकर सखि-परिकर व्यामोहसे अति विह्वल हो गया। 'ये कौन हैं?' ये हैं कुञ्ज-विहारिणी मोहिनी श्याममणि श्रीराधा। इनकी जय हो, जय हो!

प्रिया-प्रियतममें एक प्रेमका आश्रय होता है—प्रेमी और दूसरा प्रेमका विषय होता है—प्रियतम। किन्तु इस दिव्य दम्पतीके प्रेममें यह विलक्षणता है कि दोनों ही प्रेमके आश्रय और दोनों ही प्रेमके विषय हैं। रसिक-युगलका आकार 'रसके उपादानसे ही बना है। दोनों ही मानो प्रेमकी दो राशि हों। सम हैं, समवयस्क हैं, सदालिंगित हैं। अंग-अंग शुभ रंगमें रँगे हैं। आलिंगन-रसावेशके अधीन हैं। आलिंगन-परायण हैं। परिष्वंग-रसके उल्लाससे लोल-लोल एवं सदा मधुर-मधुर हैं। जैसे काँचकी दो शीशी एक रस-रंगमें रँगी गयी हों, रससे बनी हों, रसमें डूबी हों, रससे भरी हों; बस, मधुर ही मधुर। राधा-कृष्ण भी रससे भरे, रसरूप, रसाविष्ट, रसाकाङ्क्षी एवं रसपिपासा-परिप्लुत हैं। एक प्राण। एक मन। एक देह। केवल नाम दो हैं। सब प्रकारसे समान—सम रुचि और सम मूर्ति। सहज तुल्यालिंगन-शाली प्रेमरसिक और प्रेमपरायण। एक है श्याम रंगमें रँगी, दूसरी है गौर रंगमें रँगी। एक ही ज्योति-

राधा-माधव, दो प्रकारके आकारमें प्रकट हो रही है। क्षण-क्षण माधव राधिका और राधिका माधव होते रहते हैं। प्रेम-तन्मयता उन्हें अपने वशमें कर लेती है।//

प्रेम-तत्त्वकी पूर्णताकी अभिव्यक्ति तभी होती है जब परस्पर दोनोंके दोनों एक-जैसे प्रेमी और प्रियतम हों। जैसे सन्निपात ज्वरके रोगीको जितना-जितना मधुर-शीतल जल प्राप्त होता है, उतना ही उतना उत्तरोत्तर अतिशय पिपासाकी वृद्धि होती है, वैसे ही प्रियतमके रूप-स्पर्श आदिकी प्राप्तिसे भी उत्तरोत्तर एक विशिष्ट तृष्णा बढ़ती है।

'रसातुर चकोर अपने दूर-देशस्थ प्रियतम चन्द्रमाको तृष्णापूर्ण निर्निमेष दृष्टिसे मानो निरन्तर पीता-सा रहता है। सिर कट जानेपर भी क्षण भरके लिए भी उसकी दृष्टि अपने प्रियतमसे नहीं हटती। यही प्रेमीकी तृष्णाका दृष्टान्त है।[1]

महाकवि भवभूतिने उत्तर रामचरितमें कहा है, 'प्राणीके अन्तर्देशके सूक्ष्मतम भागमें कोई ऐसा अनिर्वचनीय हेतु निवास करता है जो दूसरे पदार्थोंके प्रति आसक्त कर देता है। प्रीति केवल बाह्य उपाधियोंका आश्रय लेकर ही नहीं होती, देखिये तो सही, सूर्यका उदय होनेपर कमल खिल जाता है और चन्द्रमाका उदय होनेपर चन्द्रकान्तमणि द्रवित हो जाता है। (देरी-दूरी आदिकी उपाधि होनेपर भी प्रीतिमें कोई घटा-बढ़ी नहीं होती; क्योंकि प्रीति आन्तरकी अभिव्यक्ति है')।[2]

दूरत्वादि दोषके विद्यमान रहते हुए भी, साथ ही उसके प्रीतिमें प्रतिबन्धक होनेपर भी प्रीतिका न टूटना उसकी विशेषता है। सुना जाता है कि चकोर अंगार खाता है। वह भला ऐसा क्यों करता है? उसका भाव यह है कि भगवान् शंकर अपने श्री अंगमें चिता-भस्मका लेप करते हैं। उनके ललाटपर चन्द्रमा है। यदि मैं अंगार खाकर भस्म हो जाऊँ और उस भस्मको भाल-चन्द्र भगवान् अपने भालमें लगा लें तो मेरे प्रियतम

---

१. चकोरो दूरदेशस्थं प्रियं चन्द्रं सतृष्णया।
निर्निमेषदृशा नित्यं पिबतीव रसातुरः।
शिरश्छेदेऽपि तद्दृष्टिर्नैवापैति ततः क्षणम्॥

२. व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः,
न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः॥

"Why not ask
BANK OF INDIA..?"

चन्द्रमाका संस्पर्श सम्भव है। यहाँ प्रियतमके प्रेमकी प्यास ही भस्म बनने की प्रेरणा देती है।

कहते हैं;[1] प्रेम सजातीयतामें ही पूर्ण होता है, विजातीयतामें नहीं। विजातीयतामें एकांगी होता है, जैसे चकोरका चन्द्रमासे। परन्तु यदि चकोर, चकोर न रहकर चन्द्रमा हो जाय और प्रेमातुर होकर उसका पान करे तो एक दूसरा ही आनन्द होगा। फिर भी, प्रश्न यह है कि क्या यही प्रेमकी पराकाष्ठा होगी? अवश्य इसमें न्यूनता रहेगी। राधा-माधवकी नित्य अनन्य ब्रह्मरूपिणी प्रीतिके सम्मुख वह प्रीति क्या है? क्योंकि चन्द्र-चकोरकी प्रीतिमें प्रेमी-प्रेमी हैं, प्रियतम, प्रियतम हैं। दोनोंमें समान आश्रय-विषय भाव नहीं है। राधा-माधवकी प्रीति परस्पर सम है। दोनों नित्य अनन्य और प्रेमरूप हैं। आप कल्पना करें कि यदि परम प्रेमके परवश होकर चन्द्रमा चकोर हो जाय और चकोर चन्द्रमा हो जाय, दोनोंमें दोनोंके प्रति रस-लालसा हो और दोनों ही दोनोंके प्रियतम हों, तब कहना पड़ेगा कि दोनोंके प्रेममें पूर्णता

---

१. प्रीति रीति कैसे कहि आवै।
करि विचार हिय हार रहत हौं, क्यों हूँ मन न समावै॥
चंदहि रहत एक टक देखत, सो जग धन्य चकोरी।
टूटै सीस दीठ नहीं छूटै, तदपि प्रीति अति थोरी॥
तन-मन होइ चकोरी चन्दा, शशि ह्वै शशि छवि पीवै।
तौ कछु स्वाद और ही पावै, पियत जु प्यासी जीवै॥
तद्यपि प्रीति इकंगी कहिये, जहाँ न प्रेमी दोऊ।
उघरहि रस जु चकोरहि, इक-टक चाहै चन्दा सोऊ।
ह्वै चकोर वह चहैं चकोरहि, यह चंदा ह्वै चंदहि।
छिन-छिन में तन पलटैं दोऊ, अरुझि प्रेम के फंदहि॥
याकौ बामें, वाकौ यामें, पलटि-पलटि हित पावै।
छिन-छिन प्रेम-पयोनिधि संगम, अधिक अधिक अधिकावै॥
ज्यों द्वै दरपन बीच दीप की, अगनित आभा दरसै।
द्विगुन, चौगुनौं, फेरि अठगुनौं, त्यौं अनंत हित सरसै॥
अनु प्रमान अनुमान कह्यौ, यह प्रीति बात कछु औरै।
ताको थाह कौंन अवगाहै, दूरहि तें मति बौरै॥
'मोरी हित' जब द्रवहिं व्यास-सुत गूँगे लौं गुर खाऊँ।
रोम रोम भरि रहै मिठाई ना कछु कहौं, कहाऊँ॥

आ रही है। क्षण-क्षणमें नवीन प्रेम हो, क्षण-क्षणमें नूतन तनु हो। परस्पर प्रेमके उल्लाससे क्षण-क्षण दोनों एक-दूसरेके रूपमें बदल रहे हों और यह क्रम सदा चलता रहे।

श्री राधा माधव परस्पर प्रेम-पाशमें आवद्ध हैं। दोनों प्रेम-पयोनिधि हैं। प्रिया-प्रियतम मिल-मिलकर बढ़ते रहते हैं। एक ही रस अनेक रूपमें प्रकट हो रहा है। जैसे जलमें विम्ब प्रतिविम्ब-भावको प्राप्त हो गया हो। जैसे लहरीमें कण-कण जलसे व्याप्त है, वैसे राधामें माधव, माधवमें राधा। दोनों तरंग हैं, दोनों जल हैं। दोनों परमानन्द सुधा-सिन्धु हैं। उसके माधुर्य सार-सर्वस्व भी यही हैं।

'जैसे जलमें वीचि, वीचिमें जल, जैसे आनन्द सुधासिन्धुमें माधुर्य, वैसे ही श्रीकृष्णमें राधा और राधामें श्रीकृष्ण। दोनोंमें कहीं, कभी, किसी प्रकारका तारतम्य नहीं है। न्यूनाधिक्य माननेपर प्रेमकी उज्ज्वलता सिद्ध नहीं होगी। एक रंग, एक रुचि, एक अभिप्राय, एक वय, एक शील, एक-सा मधुर स्वभाव, एक ही रस, एक ही दो दिव्य देहके रूपमें अभिव्यक्त हुआ है।'

●

दूसरेके मुँहमें डालो

एक राजा था बड़ा शौकीन। उसकी तबीयत थी रंगीन। कोई-न-कोई खेल-मेल रचता ही रहता था। प्रतिदिन किसी-न-किसी रहस्यको जन्म देता ही रहता था। एक दिन बुलाये बहुत-से लोग। सामने परस दिये बहुत-से भोग। हलवा, खीर, पूड़ी—सब कुछ था सामने। परन्तु हाथोंमें बँधी थी लकड़ी। जब कोई हाथसे उठाकर मुँहमें डालना चाहता, हाथ सिरके ऊपर हो जाता। लोगोंकी बुद्धि थी बच्ची। परस्पर करने लगे मत्था-पच्ची। एक समझदारने बात कही सच्ची। अपने मुँहमें नहीं डाल सकते तो क्या औरोंको भी नहीं खिला सकते? तुम सामने वाले को खिलाओ, सामनेवाला तुम्हें खिलाये। सब खिल गये। राजाने समझदारीकी प्रशंसा की। खिलानेका आदर्श प्रस्तुत किया।

श्री हरिबाबाजी महाराज

(संस्मरणाञ्जलि)

★ पू० पा० महाराजश्री ★

● बाबा सर्वत्र परिपूर्ण हैं

जो महापुरुष परब्रह्म परमात्मासे अभिन्न होते हैं, उनके स्थूल शरीरसे उपस्थित रहने या न रहनेसे उनकी विद्यमानतामें कोई बाधा नहीं पड़ती। वे स्थूल शरीरसे न दीखनेपर भी परमार्थतः परमात्मारूपसे सर्वत्र विद्यमान एवं वर्तमान रहते हैं। अधिकारी पुरुष कहीं भी उनका दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। उनकी आकृति भी सूक्ष्मरूपसे रहती है और अपने भक्तोंके हृदयमें, जबतक लिंग शरीरका भंग नहीं हो जायगा तबतक बनी रहती है। इसमें सन्देह नहीं कि श्री हरिबाबाजी महाराज आज भी ब्रह्मरूपसे, ईश्वररूपसे, आत्मरूपसे और विराट्‌रूपसे सर्वत्र परिपूर्ण हैं। उनका स्वरूप अविनाशी है।

● मृत्यु उनका एक खेल

उन्होंने अपने उपदेशोंमें अथवा सामान्य वार्तालापमें भी कभी मृत्युका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया। उनका कहना था कि महात्मा शरीरसे भी अमर होता है। उसका दीखना, न दीखना तो आँख-मिचौनीका एक खेल है। वे एक सच्चे खिलाड़ी थे। प्रकटरूपमें भी कबड्डी-चीलझपट्टा आदि खेल खेलते थे और अब छिपकर भी एक लीला ही कर रहे हैं। उनकी मुसकान, उनके अधरोंकी थिरकन, उनकी प्रेमभरी चितवन, उनके कर-कमलोंका स्पर्श, उनकी मीठी-मीठी बातें लोगोंको प्रत्यक्ष-सी दीखती हैं। उनके करुणा-कोमल कर-कमलोंकी छत्र-छाया अब भी भक्त-जनोंके त्राण-कल्याणमें तत्पर है।

● समयकी मर्यादा

उनके जीवनका यह अद्‌भुत चमत्कार था कि वे अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोते थे। रात्रिके उत्तरार्धमें ढाई-तीन बजे ही जग जाते थे। चार बजेसे सामूहिक संकीर्तन प्रारम्भ हो जाता था। नौ बजेसे रास-लीला देखते थे। जब वे परिभ्रमणके लिए बाहर निकलते तो लोग अपनी

घड़ियाँ मिला लिया करते। समयकी मर्यादाका ऐसा पालन विरला ही किसी महात्माके जीवनमें सम्भव है। एक बार बोले—'केवल उनतीस मिनट कथा होगी।' इसका अभिप्राय यह था कि सर्वदा सावधान रहना चाहिए। जीवनमें प्रमाद या अनियन्त्रणका प्रवेश नहीं होना चाहिए। अनियन्त्रण ही अधर्म है। वृन्दावनके आश्रममें महामहोपाध्याय श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी व्याख्यान दे रहे थे। बाबाकी आज्ञासे समय हो जानेपर सेवकने घण्टी बजा दी। पण्डित अखिलानन्द कविरत्न रुष्ट हो गये, परन्तु अब क्या हो? मर्यादाका उल्लङ्घन पाप जो है।

• मनकी एकाग्रता

जब वे प्रातः सायं चंक्रमणके लिए निकलते थे, जहाँ हाथ रखकर निकलते, लौटते समय भी वहीं होता। पाँच मील गये, आये, परन्तु हाथ वहींका वहीं। अन्तर्मुखता बनी रहती। आगे-आगे सेवक न होता तो मार्ग भूल जाते। दायें-बायें न देखते। सामने भी दूरतक दृष्टि नहीं फेंकते। कौन आया, कौन गया, इस ओर ध्यान नहीं देते थे।

• संसारी बड़ोंकी उपेक्षा

वैसे उनके जीवनमें विनय और छोटे बालकका-सा सरलभाव था। हम बच्चोंके भी आनेपर उठकर खड़े हो जाते, दण्डवत् प्रणाम करने लगते। छोटेसे छोटा काम अपने हाथसे कर लेते। बराबर बैठते। निरभिमानताकी तो मानो मूर्ति ही हों। परन्तु जो लोग स्वयं अपने मुँह अपनेको बड़ा मानते हैं, उनकी ओर आँख उठाकर देखतेतक नहीं थे। वृन्दावनके श्री उड़ियाबाबाजी महाराजके आश्रममें अनेक सम्प्रदायोंके बड़े-बड़े आचार्य पधारते थे, परन्तु वे उनकी ओर देखतेतक नहीं थे। सप्तसरोवर-हरिद्वारके सप्तऋषि आश्रममें देशके एक बहुत बड़े नेता एवं अधिकारी पुरुषने आकर प्रणाम किया, परन्तु उनके नेत्र बन्द ही रहे। ध्यान दिलानेपर भी वे उनकी ओर अभिमुख नहीं हुए। संसार जिनको बड़ा कहता है, उसमें उनकी कोई महत्त्व बुद्धि नहीं थी।

• गुरुनिष्ठा

वे बाल्यावस्थामें अपने गुरुदेव स्वामी श्री सच्चिदानन्दजी महाराजको होशियारपुरमें पंखा झला करते थे। इसका अभ्यास इतना पक्का हो गया था कि वे रामलीला, श्री चैतन्यलीला रासलीला और श्रीमद्भागवतके सप्ताहमें भी घण्टोंतक लगातार खड़े रहते, पंखा झला करते थे। एक दिन पूछनेपर उन्होंने बताया कि मुझे न राम दीखते, न कृष्ण। ऐसा लगता है कि गुरुजी महाराज लेटे हुए हैं और मैं अपनी सेवा कर रहा हूँ। इसी वर्ष जन्माष्टमीके दो दिन बाद

वृन्दावनसे अन्तिम बार जाते समय उनके मुखसे एकाएक निकला था कि 'मेरे जीवनमें जैसी श्रद्धा अपने गुरुदेवपर हुई वैसी श्रद्धा फिर किसीपर कभी नहीं हुई।' कभी-कभी उन्होंने रामलीला महीनेभरतक निरन्तर देखी, परन्तु उनको यह ज्ञात नहीं हुआ कि स्वरूप बननेवाला बालक गोरा है या काला है ?

उनके जीवनमें जैसी गुरुनिष्ठा देखनेमें आयी, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। उनके एकमात्र गुरु स्वामी श्री सच्चिदानन्द गिरि ही थे। वे बार-बार उनकी उन्मन-स्थितिका वर्णन करके प्रेम-गद्गद हो जाया करते थे। उन्हींके स्थानकी सेवा भी करते थे। उन्हींकी कृपासे बाबाको अडिग ब्रह्मनिष्ठा प्राप्त हुई थी। वे कहते थे कि 'महाराजकी दृष्टि और संकल्पसे ही लोगोंको आत्म-साक्षात्कार और जीवन्मुक्ति हो जाया करती थी। श्री अच्युतमुनिजी महाराजसे उन्होंने केवल प्रस्थानत्रयीका अध्ययन किया था। मुनिजीने उन्हें पौरुषकी प्रेरणा भी दी थी।

● पौरुषकी प्रेरणा

श्री हरिबाबाजी महाराज अपनी युवावस्थामें गंगातटपर विचरण करते हुए भेरियामें श्री अच्युतमुनिजी महाराजके पास गये। उन्होंने श्री मुनिजीसे प्रार्थना की—'महाराज ! ऐसी कृपा करें कि वृत्ति अपने स्वरूपमें टिक जाय।' मुनिजी एक वयोवृद्ध, विद्वान्, भारत-प्रसिद्ध सन्त थे। वे जरा झुककर बैठे हुए थे। प्रार्थना सुनते ही तनकर बैठ गये और बोले—'अरे हरि ! तू आलसी बनना चाहता है ? कृपाकी भीख माँगना आलसी बनना है। तू स्वयं अपने पौरुषसे वृत्तिके अस्तित्वको मटियामेट कर दे।'

श्री हरिबाबाजी यह प्रसंग अत्यन्त प्रेम और प्रसन्नतासे कभी-कभी सुनाया करते थे। जो लोग कहते हैं कि श्री हरिबाबाजीने वेदान्त और वेदान्ती गुरुको छोड़ दिया था, वे मिथ्याभाषी हैं। बाबा ब्रह्मनिष्ठ रहकर ही लोक-कल्याणके लिए भक्तिका प्रचार और नाम-संकीर्तन करते थे।

● पौरुषका प्रकाश

श्री हरिबाबाजीकी जीवनचर्यामें पौरुष ही नहीं महापौरुषका प्रकाश था। वे जन-जनमें और कण-कणमें भगवान्का ही दर्शन करते थे। उनकी सब क्रिया भगवद्दृष्टिसे ही होती थी। जब कुछ न्यूनाधिक सात सौ गाँवों, गायों और किसानोंको गंगाजीकी बाढ़से ग्रस्त और संत्रस्त देखा तो स्वयं फावड़ा और टोकरी लेकर बाँध बनानेके काममें लग गये। झुण्डके-झुण्ड लोग जुट पड़े। भण्डारे खुल गये। लोगोंके मनोरथ पूर्ण होने लगे। चमत्कारपर-चमत्कार। श्री उड़ियाबाबाजी महाराज आकर वहीं विराज गये। घोषणा कर दी गयी—'बाँध-

भगवान्‌की सेवामें एक टोकरी मिट्टी डालो और जो इच्छा हो प्राप्त करो।' केवल दस महीनेमें इतना बड़ा बाँध तैयार हो गया जिसके निर्माणमें करोड़ों रुपयेका खर्च होता। उस समयकी ब्रिटिश सरकारने भी हार मान ली थी। उसकी लम्बाई तेईस मीलके लगभग है। वे सभी वस्तुओंको ईश्वररूप और सभी क्रियाओंको ईश्वरकी सेवा समझते थे और बताया करते थे।

• निन्दा न सुनना

उनमें एक अद्‌भुत विशेषता यह थी कि वे किसीकी निन्दा सर्वथा नहीं सुनते थे। निन्दा करने वालेसे कह देते थे कि 'भगवान्‌का नाम लो या बाहर जाकर कोई काम करो।' एक बार एक मासिक पत्रिकामें लगातार दो-तीन बार साधुओंकी आलोचना छपी तो उसको उन्होंने पढ़ना ही बन्द कर दिया। वे कहते तो यह थे कि 'निन्दा-स्तुति दोनों ही नहीं करनी चाहिए' परन्तु यह देखनेमें आया कि वे साधारण-से-साधारण व्यक्तियोंके छोटे-छोटे गुणोंकी प्रशंसा किया करते थे।

• बड़ोंका आश्रय

एक बार उन्होंने कहा था कि 'यदि अपनेसे बड़ा कोई मनुष्य न मिले तो किसी पशु, पक्षी और पत्थरको भी अपनेसे बड़ा मानकर उसके नीचे रहना चाहिए। बड़ोंकी छत्र-छायामें रहनेसे अपनेमें दम्भ, अभिमान आदि दोष नहीं आते और पूजा-प्रतिष्ठा भी उन्हींकी ओर चली जाती है। उनके जीवनमें यह प्रत्यक्ष देखा गया कि वे सर्वदा ही किसी-न-किसी बड़े महात्माके साथ रहे।

• विनोदी स्वभाव

सामान्यत: लोग समझते कि बाबा बड़ी गम्भीर प्रकृतिके हैं। परन्तु जो उनके निकट रहते थे, उनके साथ वे विनोद भी खूब करते थे। लोग भी उनको हँसानेके लिए भिन्न-भिन्न प्रकारके स्वांग बनाकर प्रहसन करते। एक बार बाबाको कहीं गंगा पार जाना था। नावपर जा बैठे। उनके साथ और बीस-पच्चीस जन थे। मल्लाहने पूछा—'महाराज! आपका और आपके साथियोंका खेवा (नाव का किराया) मैं नहीं लूँगा। आप बता दीजिए कि आपके साथ कौन-कौन हैं?' बाबाने कहा—'भैया, मैं तो अकेला हूँ, मेरे साथ और कोई नहीं है।' मल्लाहने औरोंसे पैसा माँगा परन्तु संयोग ऐसा कि उस समय किसीके पास पैसा न था। सबको उतर जाना पड़ा और बाबा अकेले पार उतर गये। दूसरे लोग गाँवसे पैसा मँगाकर फिर पार गये। अच्छा विनोद रहा।

• दूसरोंसे अप्रभावित

टाटवाले नारायण स्वामीजी हरिद्वारके पास बहादराबादमें ठहरे हुए थे। श्री हरिबाबाजी उनका दर्शन

करने गये । श्री नारायण स्वामीजीने कहा—'आज रात्रिमें भगवान् नारायणने मुझे दर्शन दिया और उस समय तुम्हारा स्मरण किया। नारायणने आज्ञा की है कि अब हरिबाबाको संकीर्तन, उत्सव, धूमधाम, भीड़भाड़ छोड़कर एकान्तमें रहना चाहिए और वेदान्त-चिन्तन करना चाहिए। अब तुम ऐसा ही करो।' श्री हरिबाबाजीने बड़े विनयसे उत्तर दिया—'स्वामीजी, मैंने भी अपना जीवन थोड़ा-बहुत भगवान्‌का नाम लेते हुए व्यतीत किया है। यदि वे मुझपर कृपा करते हैं, आदेश देते हैं तो सीधे मुझे क्यों नहीं देते ? आपके द्वारा क्यों भेजते हैं ? क्या मैं उनके स्वप्नादेशका भी अधिकारी नहीं हूँ ? और जब प्रभुकी मुझपर इतनी कृपा है, स्मरण करते हैं, आदेश देते हैं तो जो काम वेदान्त-चिन्तनसे होता है, वह क्या वे स्वयं नहीं कर देंगे ?' वे उन्हें सादर दण्डवत् प्रणाम करके चले आये।

• जीवनमुक्तिकी भूमिकाएँ बाधित थीं।

इसी ढंगका एक प्रसंग और आया। पंजाबमें कोई प्रसिद्ध महात्मा थे। लोगोंका विश्वास था कि वे छठी भूमिकामें रहते हैं। लोगोंसे बहुत कम मिलते, कम बोलते, प्रपञ्चका विस्मरण-सा रहता। कभी बात करते तो अत्यन्त धीमी आवाजमें साँय-साँय। कुटिया बन्द रहती। उनके शरीरकी साज-सँवार उनके सेवक लोग करते। एक साधु उनकी प्रशंसा करके श्री हरिबाबाजीको उनके पास ले गये। उन्होंने भी श्री हरिबाबाजीसे कहा कि 'अब जनसंसर्ग और संकीर्त्तन आदिका विक्षेप छोड़कर ब्रह्मात्मैक्य चिन्तन करो और अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओ।' बाबाने अत्यन्त विनयके साथ उनका उपदेश श्रवण किया और चले आये। उनकी रहनीमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं पड़ा। वास्तविकता यह थी कि बाबा पहलेसे ही सातों भूमिकाएँ पार कर चुके थे। उनके मनमें इनके प्रति कोई महत्त्वबुद्धि नहीं थी। जिसमें अविद्या ही न हो, उसको चिन्तनकी क्या आवश्यकता ? सम्यक् बोध केवल प्रवृत्तिका ही नहीं, निवृत्तिका भी उपमर्दन कर देता है। उनका हँसना-बोलना, चलना, फिरना—सब लोक-मंगलके लिए ब्रह्मरूप ही था। उन्हें जो साधक समझते थे और साधनके लिए उपदेश करते थे, वे उनके वास्तविक रूपको नहीं समझते थे।

• उनका सब ठीक है।

एक बार श्री उड़ियाबाबाजी महाराजसे किसीने कहा—'श्री हरिबाबाजीको यह काम करनेसे मना कर दीजिये।' महाराजने कहा—'बाबा साक्षात् परमेश्वर हैं वे जो कुछ करते हैं, वही ठीक है। मैं क्यों

मना करूँ ? तुम्हें उनकी कोई बात नहीं जँचती है तो स्वयं जाकर मना करो।' एक बार किसी भक्तने महाराजजीसे कहा—'इस सम्बन्धमें श्री हरिबाबाजीने यह निर्णय दिया है, आप क्या कहते हैं ?' वे बोले—'बाबाने जो कह दिया, वही वेदवाक्य है। उनके कह देनेके बाद मुझसे क्यों पूछने आये हो ?' महाराजजीके सम्बन्धमें बाबा भी प्राय: ऐसी ही बात कहते थे। असलमें दोनों एक ही थे। और परस्पर एक-दूसरेकी बातको अपनी ही बात मानते थे।

• विक्षेप भी रामलीला है

दिल्लीमें प्रतिवर्ष विशाल रामलीलाका आयोजन होता है। उसमें दस-दस लाखतक जन-सम्मर्द होता है। विदेशी राजदूत आते हैं। हमारे राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री भी आते हैं। कोलाहलकी पराकाष्ठा होती है। भक्त लोग बाबाको भी रामलीलामें ले गये। साथमें सेवकके रूपमें वैकुण्ठदास भी थे। उन्होंने कहा—'बाबा ! यहाँ बड़ी भीड़ है, कोलाहल है, विक्षेप है, अशान्ति है।' बाबा हँसने लगे, बोले—'बावरे ! तू यहाँ वानर-राक्षसोंका युद्ध देखने आया है या एकान्त-शान्त, समाधिका आनन्द लेने ? यह शोर-गुल तो युद्ध-भूमिका है। यहाँ विक्षेपको ही भगवान्‌की लीला अनुभव करनेका है। अपना मन मत देखो, भगवान्‌की लीला देखो।' क्या अजब और गजब निष्ठा थी उनकी। कच्चे वेदान्ती या योगी उनको कैसे समझ सकते हैं ?

• नियम पालनके लिए

वैसे देखें तो बाबाके द्वारा बहुत बड़ा प्रचार कार्य हुआ। उत्तर भारतमें ऐसा कोई विरला ही नगर होगा, जहाँ उन्होंने पावन नामके उद्‌घोषसे वातावरणको पवित्र न बनाया हो। कोई अभागा ही आध्यात्मिक पुरुष होगा जिसके कानोंमें उनके आदर्श चरित्र और प्रेममय नामकी ध्वनि न पहुँची हो। इतना होनेपर भी वे प्रचारके भावसे कितने मुक्त थे—इसका एक उदाहरण देखिये—वृन्दावनके श्री उड़ियाबाबाजी महाराजके आश्रममें वे श्रीधरीके अनुसार गीता पर कुछ उपदेश कर रहे थे। एक अजनबी आदमी बीचमें बोल उठा—'महाराज ! जरा जोरसे बोलिये, सुन नहीं पड़ता।' बाबाने कहा—'भैया ! हम अपना नित्यनियम पूरा करनेके लिए गीताका पाठ करते हैं। तुम्हें नहीं सुन पड़ता तो अपना मन और एकाग्र करो, पास आ जाओ। सन्तोष न हो तो चले जाओ। हम भगवान्‌को सुनानेके लिए पाठ-कीर्तन करते हैं, मनुष्यको सुनानेके लिए नहीं।'

• दूसरेको परेशानीसे बचाना

किसी प्रेमी भक्तके आग्रहसे उसके घर भोजन करनेके लिए चले गये।

ब्रह्मलीन प० पू० श्री हरिबाबाजी महाराज

संयोगवश उसकी पत्नी छू गयी। भक्तने स्वयं अपने हाथसे भोजन बनाया। जब बाबा जीमनेके लिए बैठे तो देखा कि आलूकी सब्जी एरण्डीके तेलमें बनी है। बाबाने भक्तको यह बात नहीं बतलायी। 'बहुत बढ़िया बनी है'—कह कर धीरे-धीरे सब खा गये। आश्रम पर आनेके बाद दस्त लगने लगे। सेवकोंके पूछनेपर बोले—'आज जुलाब ले लिया है।' खिलानेवाले भक्तको मनमें परेशानी न हो, इसके लिए उन्होंने स्वयं परेशानी उठा ली। इतना संकोची स्वभाव था उनका कि श्री उड़ियाबाबाजी महाराजसे आमने-सामने बात भी नहीं करते थे। साथ बैठे रहनेपर भी कोई बात पूछनी होती तो दूसरोंसे पुछवाते। बाबाका हृदय बहुत ही कोमल था।

• केवल गुणदर्शन

श्री वृन्दावन धाममें एक विद्वान्के घर कथा सुननेके लिए जाया करते थे। प्रवचनकार भक्ति रसके अच्छे जानकार थे। बाबा जाकर सबसे पीछे बैठ जाते। नजर नीची रखते। कथा समाप्त होने पर चुपचाप उठ आते। साथके सेवकने एक दिन निवेदन किया कि 'भगवन् ! ये सज्जन कथा उच्च कोटिकी कहते हैं। परन्तु रहते बड़े ठाट-बाटसे हैं। बैठककी एक-एक खूँटीपर अलग-अलग शाल-दुशाले टँगे रहते हैं। यह क्या बात है ?' बाबाने अपने सेवकको डाँट दिया और कहा—'तुम कथा सुनने जाते हो या इधर-उधर शाल-दुशाले देखने। अपने हृदयको भगवन्मय बनाओ। संसारमें एक ईश्वर ही निर्दोष है।'

मनोरञ्जन

वाराणसीके बाबू शिवप्रसाद गुप्त पृथिवी परिक्रमा करनेके लिए यात्रा कर रहे थे। अमेरिकाके एक रेलवे स्टेशनपर ट्रेनसे नीचे उतरे और मुँहमें हाथका ओक लगाकर पानी पीने लगे। विदेशियोंकी भीड़ लग गयी। सब आश्चर्य-चकित। 'यह क्या करते हो ?' बाबूजीने बताया— यदि हम अपने पात्रमें जल पीते तो उसे माँजने-धोनेके लिए मिट्टीकी आवश्यकता पड़ती। वह इस समय मेरे पास नहीं है, इसलिए मैंने हाथसे ही पी लिया। आप लोग भारतीय-सांस्कृतिक कार्य-क्रम देखकर मनोरंजन करते हैं। वह कृत्रिम होता है। आप सच्ची-सच्ची देख लीजिये और प्रसन्न हो जाइये।' यह बात मैंने स्वयं उनके मुखसे सुनी थी। बाबूजी बड़े प्रतिष्ठित, सम्पन्न एवं सच्चे राष्ट्रसेवी थे। सम्भवतः उनकी लिखी हुई 'पृथिवी-परिक्रमा' नामकी पुस्तक भी छपी थी। •

• परोपकार कैसे ?

बात पुरानी है, पर बाबाने स्वयं सुनायी थी। जब वे काशीके पास गंगा-तटपर विरक्त-भावसे विचरण करते और भिक्षा माँगकर खाते, तब उनके पास जन्मभूमिका कोई पूर्व परिचित व्यक्ति आया। उसने अपना कष्ट बताया कि 'मेरे पास घर जानेके लिए रेल-किराया नहीं है। तुम प्रबन्ध कर दो।' बाबाने उसे 'न' नहीं किया। अपने मनमें यह संकल्प किया कि प्रत्येक घरसे एक पैसा लेंगे। एक झोली बनायी और उसमें घर-घर एक-एक पैसा माँगने लगे। कोई देता, कोई नहीं देता, कहीं अपमान मिलता। वस्तुतः अपमान-सहन ही भिक्षाका तत्त्व है। जब अनुमानसे चौदह-पन्द्रह रुपये हो गये; तब उन्होंने वह झोली ही उसको सम्भला दिया। हाथसे पैसा नहीं छूआ। बाबाका यह प्रेम, तप, त्याग, सहिष्णुता और सुशीलता देखकर वह व्यक्ति सदाके लिए बाबाके प्रति निछावर हो गया और आजीवन उन्हींका होकर रहा।

• समता और स्वच्छता

बाबाके परिकरमें सभी जातिके लोग सम्मिलित होते थे। उनके पास वर्ण, आश्रम, मजहब, पन्थ आदिका कोई भेद नहीं था। उनके निकट परिकरमें विद्वान् अग्रज, भोले अन्त्यज, मुसलमान एवं ईसाई भी सम्मिलित थे। सिक्खोंकी तो एक बड़ी संख्या थी। वे किसीके पाँव छूनेमें हिचकिचाते नहीं थे। सबको हृदयसे लगा लेते थे और सबको प्यार करते थे। उन्हें सफाई सबसे अधिक पसन्द थी। बाँधपर गोबरसे लीपना और मिट्टी डालना हमेशा चलता रहता था। दिन भर गिरते हुए पत्तोंको झाड़नेके लिए लोग लगे रहते थे। यदि वे कहीं नयी जगह भी जाते तो क्या ब्राह्मण, पण्डित, क्या राजा-रईस, क्या शूद्र सबको सफाईके काममें लगा देते थे। एक बार हम लोग सिद्ध सन्त श्री त्रिवेणीपुरीजी महाराजके उत्सवमें खन्ना गय थे। वहाँके रास्ते गन्दे थे—नागफनी और सेंहुड़से घिरे हुए थे। बाबाने बाँधके लोगोंको सफाईके काममें लगा दिया। मैं उधरसे निकला। पण्डित छविकृष्ण दीक्षित और ठाकुर साहब बहादुर सिंह फावड़ेसे कूड़ा-कचरा हटा रहे थे। उन्होंने मुझे प्रणाम करके कहा—'स्वामीजी ! हमारी तो जात पहचानी गयी। कहते हैं कि चमार जहाँ जाता है वहाँ उसे चामका ही काम करना पड़ता है। हम बाँधके लोग जहाँ जाते हैं, यह टोकरी और फावड़ा हमलोगोंके पीछे-पीछे जाता है।' ये लोग आजीवन जान हथेलीपर रखकर बाबाकी सेवामें रहे। बाबा पाँच-पाँच सात-सात मील तककी सफाई करवाते

थे और कहते थे—'सफाई ही खुदाई है।'

● पण्डित जी, दण्डवत् !

बाबाके साथ एक रसिक विद्वान् श्री सुन्दरलालजी रहा करते थे। वे रोम-रोमसे बाबाके प्रति प्रेम करते थे। मुँह लगे इतने थे कि सामने ही खरी-खोटी सुना देते। भरी सभामें भी अनाप-शनाप बोल देते। कहते—'इतनी भीड़, इतना काम, इतना प्रपञ्च इकट्ठा करनेको क्या आवश्यकता है।' सचमुच उनका जीवन त्यागमय था। एक दिन बाबा और वे—दोनों स्नानके लिए गंगाजीमें उतरे। तैरनेकी कलामें दोनों ही पारंगत थे। सब लोग किनारेपर रह गये और वे दोनों आगे बढ़ते गये। धीरे-धीरे गंगापार पहुँच गये। बाबाने कहा—'पण्डित जी ! आओ अब यहींसे हरिद्वार चलें।' पण्डितजीने कहा—'न लोटा, न धोती, यहींसे कैसे चलें ?' बाबाने कहा—'अच्छा, पण्डितजी ! अब आप जाइये, लोटा-धोती सँभालिये। मैं चला, दण्डवत्।' वे अकेले चल पड़े। पण्डितजी लौट गये। बाबा कई दिनों तक गुप्त रहे। भक्तोंने उन्हें उत्तरकाशीमें पकड़ा। वहाँ भी उन्होंने किसीको अपना परिचय नहीं दिया। एक प्रसिद्ध संन्यास-आश्रमके अधिकारियोंने उन्हें उदासी समझकर निकाल दिया। उन्होंने पूछनेपर साफ कह दिया था कि 'मैं संन्यासी-उदासीका भेद नहीं जानता।' असलमें उन्होंने भेदभावको जड़से उखाड़ फेंका था और निस्पृहताका आभूषण धारण कर रक्खा था।

● विविध पक्षोंमें समता

उनके कार्यक्रमकी एक असाधारण प्रणाली यह थी कि जब भक्तोंमें यह मतभेद हो जाता, तब विभिन्न पक्षोंको कागजके विभिन्न टुकड़ोंपर लिखवाकर ठाकुरजीके सामने रखवा देते और प्रार्थना-कीर्तन करके किसी अनभिज्ञ बालकसे उठवाते। जो लिखा हुआ निकलता, उसके अनुसार व्यवहार करते। सामान्यरूपसे यह बात बुद्धिमानोंको ठीक नहीं जँचती थी। किसी भी युक्तिसंगत और उचित पक्षको संयोगपर छोड़ देना भला कौन पसन्द करेगा ? मैंने इसपर विचार किया और मुझे ऐसा लगा कि यह उनकी समताका लक्षण था। वे संसारके विविध विवादास्पद विषयों, व्यक्तियों, स्थानों एवं कर्त्तव्योंको समताकी दृष्टिसे ही देखते थे। इसलिए चाहे जो भी होगा, उसमें जीवोंका हित ही होगा। उनकी यह दृढ़ निष्ठा थी। उन्हें सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन होता था या ईश्वर-दर्शन—यह एक अलग प्रश्न है; परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि सृष्टिके विभिन्न पक्षोंमें उन्हें सम एवं अनुकूल परमार्थका ही दर्शन होता था।

• प्रणाम करनेयोग्य

जब मैंने ज्योतिषपीठाधीश्वर शंकराचार्य श्री ब्रह्मानन्द सरस्वतीसे दण्ड ग्रहण किया, तब उन्होंने कहा कि 'जिसके पास दण्ड न हो और दण्डियोंमें भी जिसका चातुर्मास्य और विद्या अधिक न हो, उसको प्रणाम नहीं करना।' मैंने श्री उड़ियाबाबाजीका नाम लेकर प्रश्न किया। तब उन्होंने कहा कि 'वे तो गोवर्धन-पीठाधीश्वर शंकराचार्यके शिष्य हैं और पहलेके दण्डी हैं इसलिए उन्हें प्रणाम करनेमें कोई हानि नहीं है।' उसके बाद मैं बाँधपर आया। श्री हरिबाबाजीको 'प्रणाम करें कि नहीं ?' यह प्रश्न अपने महाराजजीके सामने रखा। उन्होंने कहा—'निर-भिमानता और विनय सर्वोत्तम गुण है। भागवतमें लिखा है कि कुत्ते, बैल और गधेको भी धरती पर लोट कर भगवद्बुद्धिसे प्रणाम करना चाहिए। श्री हरिबाबाजी एक उच्च-कोटिके महापुरुष हैं। हजारों लोग उन्हें भगवद्दृष्टिसे देखते हैं। वे दैवी सम्पत्तिके खजाने हैं। वे वर्णा-श्रमातीत पुरुष हैं। उन्हें अवश्य प्रणाम करना चाहिए। प्रणाम करना अपना सद्गुण है। वह अपनेमें रहना चाहिए। तुम हमेशासे उनको प्रणाम करते रहे हो। अब भी करना चाहिए।' श्री उड़ियाबाबाजीकी दृष्टिमें श्रीहरिबाबाजी उनके स्वरूप ही थे।

• अन्न ब्रह्म

श्री हरिबाबाजी महाराजका भोजन बरसों तक एक सरीखा ही चलता रहता। साबूत मूंग और सब्जी—दोनों मिलाकर एक साथ पकाया जाता था। प्रायः रोटीके साथ खाते थे। भोजन आनेपर अपने उपयोगभरका अपने कटोरेमें ले लेते और खा लेते थे। सब जूठा नहीं करते थे। अन्तमें कटोरेको भी धोकर पी लेते थे। यह नियम लेनेके पहले भी वे वर्ष-वर्ष भर या छः-छः महीने तक एक ही ढंगकी वस्तु खाते थे। एक बार मुझे जुकाम हुआ। एक बोतल काष्ठौषध भेज दी पीनेके लिए और बोले—'भात खाओ तो जुकाम अच्छा हो जायगा। सृष्टिमें भात ही अमृत है।' वर्ष-दो वर्षके बाद मुझे फिर जुकाम हुआ। दवा भेजी और कहला दिया कि 'रोटी खाओ और यही अमृत है।' मैंने सोचा कि कभी भातको अमृत कहते हैं, कभी रोटीको। इसका क्या कारण है? पता लगानेपर ज्ञात हुआ कि वे जब, जो खाते हैं, तब उसीको अमृत बताते हैं। असलमें अन्न ब्रह्म है। उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। ब्रह्म-बुद्धिसे ही उसका सेवन करना चाहिए। ब्रह्म-बुद्धिसे प्रत्येक अन्न सब रोगोंकी औषध हो जाता है।

• संकल्प

एक बार मुझसे बोले 'आओ,

एक वर्ष तक संकल्प ग्रहण करके वृन्दावनमें बैठें। तुम श्रीधरी भागवत सुनाओ। मैं आदिसे अन्ततक सुनूँगा।' मैंने कहा—'एक वर्षके अनुष्ठानका नाम सुनकर दूर-दूरसे लोग इकट्ठे हो जायँगे। उनके भोजन और निवासकी व्यवस्था कैसे हो सकेगी?' बाबाने कहा—'प्रतिदिन भागवतकी कथा होगी। हरिनामका संकीर्तन होगा। तुम कहोगे और मैं सुनूँगा। फिर भगवान् क्या खान-पानकी व्यवस्था भी नहीं करेंगे?' हम लोग नियमपूर्वक बैठ गये। कथावार्ता चलने लगी। सब प्रबन्ध हो गया।

संकल्पके विघ्न

इसी अनुष्ठानके बीचमें हैदराबाद सिन्धके वेदान्त-मर्मज्ञ भाई हेमनदास, जो कि मुझपर बहुत श्रद्धा-प्रीति रखते थे, कोलम्बोके सेठ जीवतरामको लेकर आये। उन्होंने आग्रह किया कि 'श्रीलंका चलो, वहाँके हिन्दुओंमें धर्म-संस्कृतिका प्रचार करनेके लिए। मार्ग-व्ययके रुपये जमा हो गये। मथुराके मजिस्ट्रेटने प्रमाण-पत्र देनेका वादा किया।' जब यह बात बाबाके पास पहुँची तब उन्होंने कहा कि 'यह अनुष्ठानमें विघ्न है। जो संकल्प कर लिया उसे बीचमें नहीं तोड़ना।' मैंने उनकी आज्ञा मान ली। श्री लंकाकी यात्रा कट गयी।

• संकल्पकी निवृत्ति

ग्यारह महीने पूरे होते न होते बाबाने कहा कि 'अब जितना बाकी है, दोनों समयमें पूरा करके पन्द्रह दिनमें पूरा कर दो; क्योंकि मैं पुरी जाना चाहता हूँ।' मैंने कहा—'पन्द्रह दिनके लिए संकल्प क्यों तोड़ते हैं?' बाबाने हँसकर मेरी पीठपर हाथ रख दिया और बोले—'संकल्प पूरा करनेका आग्रह संसारियोंका होता है। साधुके संकल्पका तो टूट जाना ही अच्छा है। जहाँ अपना संकल्प पूरा नहीं होता, वहाँ अपने प्रियतम प्रभुका संकल्प पूरा होता है।'

• केवल रसास्वादन

ब्रिटिश शासनकालमें ग्वालियर राज्यके करहे नामक स्थानमें बाबा रामदासने एक महान् उत्सवका आयोजन किया था। चौबीसों घण्टे सैकड़ों कड़ाहियोंमें मालपूए छनते रहते थे। गाँवके लाखों लोग आते और जाते। बस, भोजन और भजनका मेला था। अपने महाराजश्री उड़िया-बाबाजीके साथ मैं भी वहाँ पैदल गया था। वहाँ लाखोंकी भीड़ देखकर मैंने सामान्य सदाचार-सम्बन्धी प्रवचन किया। सत्संगके अन्तमें श्री हरिबाबाजी महाराजने मुझे बुलाकर कहा—'भैया! जरा मेरा भी ध्यान रक्खा करो। तुम प्रवचन करते समय भूल ही गये कि मैं यहाँ बैठा हूँ।' इसका अभिप्राय यह है कि वे अपना लोक-परलोक बनानेके लिए अथवा अन्तःकरण शुद्ध करनेके लिए

प्रवचन नहीं सुना करते थे। सदाचारका प्रचार-प्रसार इष्ट होनेपर भी वे स्वयं भगवद्-रसास्वादनमें ही अपना समय व्यतीत करना चाहते थे। उन्हें भूत-भविष्य, प्रचार या लोक-कल्याणकी कोई वासना नहीं थी। वे जानते थे कि कुत्तोंकी पूँछको कितनी भी सीधी करो, वह टेढ़ीकी टेढ़ी ही रहती है। अपने आपको परमानन्द-प्रभुमें और उनके रसमें मग्न रखना—यही जीवनकी सफलता है।

अद्वैतनिष्ठा

फीरोजाबाद (उत्तर प्रदेश) के उत्सवमें उनके साथ मैं भी गया। बम्बईवाले श्री कृष्णानन्दजीके आग्रहसे वहाँ जाना हुआ था। श्री राधा-कृष्णके मन्दिरमें ठहरे। लौटते समय एक ही गाड़ीमें उनके साथ मैं बैठा। मथुराके पुलिस इन्सपेक्टर श्री नारायण सिंह मोटर ड्राइव कर रहे थे। ढाई घण्टेकी यात्रामें मैंने उनसे अनेक प्रश्न किये और उनके उत्तर बड़े प्रेमसे उन्होंने दिये। एक उदाहरण देखिये—'आपकी निष्ठा क्या है ?' मैंने पूछा। वे बोले—'मेरी अद्वैत-निष्ठा है। मेरे गुरुजी स्वामी श्री सच्चिदानन्द गिरिजीकी अद्वैत-निष्ठा परिपूर्ण एवं परिपक्व थी। उनकी कृपासे ही मुझमें अद्वैत-निष्ठाका संचार हुआ था और वह ज्यों-की-त्यों अखण्ड है।' मैंने पूछा कि 'लोग तो यही समझते हैं कि आप भक्ति-परायण, संकीर्त्तननिष्ठ हैं।' वे बोले—दोनोंमें विरोध कहाँ है। मुक्ति वा अद्वैत अपना स्वरूप है। भक्ति हृदयमें निरन्तर उल्लसित रसकी धारा है। शान्त-रस और उल्लसित-रसमें तत्त्वतः कोई भेद नहीं है। उल्लास पारमार्थिक है अथवा व्यावहारिक है—इससे भी कोई अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि रसकी अविच्छिन्न भासमानता है। हृदय रसमें उन्मज्जन-निमज्जन करे, स्वरूप ज्यों-का-त्यों। रसिकाचार्य भी तो यही कहते हैं—'भक्तिर्मुक्त्यैव निर्विघ्ना' अर्थात् मुक्तिके अनन्तर भक्ति निर्विघ्न और निरुपद्रव होती है।'

सकाम निष्काम

अनेक महात्माओंका कहना है कि भक्ति निष्काम होनी चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि निष्कामता उच्च-कोटिकी वस्तु है। श्री हरिबाबाजी महाराज निष्कामताकी प्रशंसा किसीसे कम नहीं करते थे। परन्तु वे साधाराण जनके लिए ऐसी स्थितिको कठिन मानते थे। उनका कहना था कि 'यदि किसीको कुछ वासना भी हो तो उसके लिए प्रार्थना भगवान्से ही करनी चाहिए और किसीसे नहीं। ध्रुव, गजेन्द्र, द्रौपदी आदिके समान पहले सकाम भाव होता है और बादमें निष्काम प्रेम होता है। सेवक या पत्नीको छोड़कर और किसके पास माँगने जाय।' वे व्यक्तिशः और संघशः, दोनों प्रकारसे

स्वामी श्री योगानन्दपुरीके संस्मरण

१. जेठकी तमतमाती दोपहरीमें हमलोग स्वामीजीकी कुटियापर पहुँचे। पाँच मील मार्ग तय करनेके कारण शरीर तप गया था। लू चल रही थी, बालू गरमागरम। स्वामीजीने अपनी कुटियाका द्वार खोल दिया। हँसते हुए बोले—'बाहर बहुत गर्मी है, भीतर आ जाओ।'

स्वामीजीने ठीक ही कहा था। बाह्य व्यवहारमें ताप-सन्ताप हो तो अन्तर्देशके पवित्रतम प्रदेशमें प्रवेश करके भगवदावेशमें स्थित हो जाना चाहिए। बहिर्मुखता दुःख है, अन्तर्मुखता सुख। मुखका रुख परिवर्तित हो जाना ही प्रमुख साधन है।

२. मैंने स्वामीजीसे पत्र लिखकर प्रार्थना की—'साधन-भजनमें रस नहीं आता।' कलकत्तेसे पत्र आया—'क्लैव्यं मा स्म गमः'—नपुंसक मत बनो। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'—बलहीनको आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, जैसे शेर अपने शिकारपर टूट पड़ता है, वैसे साहसके साथ अपने लक्ष्यपर धावा बोल दो। एक पगली छलांगमें ही उस अन्तरको पार कर लो जो तुम्हारे और तुम्हारे लक्ष्यके बीचमें दीवार बना हुआ है। जो साधनके प्रारम्भमें है वही अन्तमें है। जबतक आगे पाँव नहीं बढ़ाते, तबतक लक्ष्य दूर प्रतीत होता है। आगे पाँव बढ़ाते ही तुम देखोगे कि तुम्हारा लक्ष्य स्वयं तुममें है, स्वयं तुम ही।

३. मैंने स्वामीजी महाराजसे 'श्रीकृष्णमन्त्र'की दीक्षा ग्रहण की, क्रियावती दीक्षा। स्वामीजीने मेरा वैष्णव-अभिषेक किया। सिरपर हाथ रखकर एक सौ आठ बार मन्त्रका जप किया। अन्तमें बोले—'तुम मुक्त हो, अब तुम्हारा कर्ममूलक जन्म-मरण नहीं होगा।' मैंने प्रश्न किया—'महाराज फिर भजनकी क्या आवश्यकता है।' उन्होंने कहा—'केवल समयका पेट भरनेके लिए। अब तुम्हारा भजन कुछ पानेके लिए नहीं—केवल कालक्षेपके लिए होगा। ●

सकाम अनुष्ठान करवाते थे और अधिकांश उनकी पूर्ति होती थी। जहाँ भगवान्‌से एकता है, वहाँ सकाम-निष्काम कुछ होता ही नहीं। प्रेमपत्तनमें कहा गया है—'प्रेम नगरमें निष्कामतासे सकामता श्रेष्ठ है। प्रभुके प्रति निष्कामता ही सकामताके समान निकृष्ट है। रस-सिद्ध पुरुषोंको सकामता और निष्कामता एक ही कोटिमें अपना स्वरूप ही भासती है; क्योंकि उनके लिए यह, वह, मैं—सब भगवद्‌स्वरूप ही होता है।—क्रमशः

श्रीश्री माँ
आनन्दमयीके
चार सूत्र

●

१. जहाँ प्रश्न है वहीं उसका उत्तर है।
२. पिता जी ! जो हो जाय।
३. सबमें सबहै।
४. आप जहाँ बैठे हैं, वहाँसे ऐसा ही दीखता है।

श्रीश्री माँ आनन्दमयी

श्री स्वामी सच्चिदानन्देन्द्र सरस्वती

शांकर भाष्य : एक अध्ययन

(गताङ्कसे आगे)

नामरूपात्मक जगत् रज्जुसर्पादिके समान विकल्पमात्र है। प्रतीत होनेपर भी इसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय नहीं है। कूटस्थ नित्य स्वभाव पारमार्थिक आत्मामें तो उसकी प्राप्ति ही नहीं है। फिर भी अनिश्चित-स्वरूप रज्जुमें सर्पादि विकल्पके समान अज्ञात ब्रह्ममें उत्पत्ति आदिकी कल्पना अयुक्त नहीं है; क्योंकि देखी जाती है। स्वरूपका ज्ञान होनेपर उसका 'बाध' भी हो जाता है। इसीको वेदान्तमें 'सत्कार्यवाद' के नामसे कहा गया है।' कार्य स्वयं अपने रूपमें सर्वथा अस्तित्वशून्य है तथापि अपने विकल्पनास्पद ब्रह्मरूपमें तो सर्वथा सत्य ही है। अज, अद्वय ब्रह्मकी अपनेमें कल्पित नामरूपात्मक जगत्के रूपमें प्रतीति ही उसका मायिक जन्म है। गौडपादीय कारिका २।३२ 'न निरोधो०' के भाष्यमें आचार्य कहते हैं कि रज्जु-सर्पकी उत्पत्ति न रज्जुमें, न मनमें, न दोनोंमें होती है। सम्पूर्ण द्वैत ठीक वैसे ही मानस है। कारिकाके २।३४ में कहा गया है कि यह जगत् आत्मभावसे अथवा स्वयं किसी प्रकार नाना नहीं है। न यह पृथक् है न अपृथक्। कारिका २।१७-१८ में कहा गया है कि अज्ञानसे सृष्टि विकल्प है और ज्ञानसे विकल्पको निवृत्ति। वेदान्त-दर्शनके २।१।७ में आचार्यने 'असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात्' इस सूत्रके भाष्यमें कहा है कि' प्रतिषेध्य नहीं है केवल प्रतिषेध ही है। जगत् प्रतीतिके समय भी ब्रह्मातिरिक्त नहीं है। कारणात्मासे रहित कार्य न सृष्टिके पूर्व था, न तो अब है। गौडपादकारिका ३।२४ में कहा गया है कि श्रुति स्पष्ट रूपसे कहती है—नानात्व नहीं है। इन्द्र अविद्यारूप इन्द्रिय प्रज्ञाके द्वारा अनेक रूप प्रतीत होता है। वह अज रहता हुआ भी मायासे ही अनेक रूपोंमें पैदा होता है। यहाँ 'मायासे ही' कहनेका अभिप्राय यह है कि वह जगत्के रूपमें जन्म नहीं लेता। बहुधा जन्म और 'अजत्व' एकत्र सम्भव नहीं। सू० भा० २।१।२७ में कहा गया है कि अविद्या कल्पित अनिर्वचनीय व्याकृताव्याकृतरूप भेदसे ही ब्रह्म व्यवहारास्पद प्रतीत होता

३

है। अपने पारमार्थिक स्वरूपसे तो वह सर्वव्यवहारातीत एवं अपरिणत ही है।

१९. किसी-किसीको ऐसा लगता कि यह सत्कार्यवाद और मायाजन्मवाद श्रुति-अनुकूल नहीं है; क्योंकि उपनिषदोंमें सर्वत्र ब्रह्मसे ही जगज्जन्मादिका श्रवण है। तैत्तिरीय २।१ में आत्मासे आकाशके प्रश्न ६।४ में परमात्मासे प्राणकी, मुण्डक १।१।७ में अक्षरसे विश्वकी, तैत्तिरीय ३।१ में ब्रह्मसे भूतोंकी, ऐतरेय १।२ में ईश्वरसे लोकोंकी, छान्दोग्य ६।२।३ में ब्रह्मसे तेजकी सृष्टिका वर्णन किया गया है। गीतामें भी 'अहं सर्वस्य प्रभवः' (१०।८) में भगवान्ने अपनेको ही सर्वकारण कहा है। ब्रह्मसूत्रमें दूसरा सूत्र ही ब्रह्मके कारणत्वका प्रतिपादक है। ऐसी स्थितिमें बीचमें माया अथवा सत्कार्यवाद लानेकी क्या आवश्यकता है। सर्वज्ञ, सर्वशक्ति ब्रह्मको ही जगत्का कारण क्यों न माना जाय। ठीक है, ऊपर-ऊपर देखनेसे यह पक्ष यथार्थ लगता है; परन्तु जब 'नेति-नेति' और 'नसत् नासत्' की दृष्टिसे विचार करते हैं तो तथ्य दूसरा ही निकलता है। निषेधावधिको जान लेनेपर फिर कोई आकांक्षा शेष नहीं रहती। अन्यका निषेध करके ही ब्रह्मके स्वरूपका निरूपण होता है। कारणत्वके प्रतिपादनसे वस्तुकी अद्वितीयता प्रकट होती है। छान्दोग्य ६।८।४ में कार्यके द्वारा कारणके अनुसन्धानकी प्रक्रियाका उल्लेख है। सावकाश श्रुतिकी अपेक्षा निरवकाश श्रुति बलवती होती है। 'इन्द्रो मायाभिः' इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार 'जन्मादि' श्रुति मायाविशिष्टका प्रतिपादन करती हैं और 'नेति-नेति' शुद्धका। सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्व भी व्यावहारिक ही है। मुण्डक श्रुति २।२।१२ 'ब्रह्मैवेदं विश्वम्' और छान्दोग्य श्रुति ७।२५।२ 'आत्मैवेदं सर्वम्' कहती है। 'स एवेदं सर्वम्', 'अहमेवेदं सर्वम्' ऐसा भी निर्देश है। इन सावधारण श्रुतियोंके द्वारा ब्रह्मातिरिक्त अन्यका सर्वथा निषेध किया गया है।

गौडपादीय कारिकाके ३।२६ में ब्रह्मको निषेधावधि, अग्राह्य एवं स्वयंप्रकाश कहा गया है। सू० भा० के ४।३।१४ में आचार्यने यह निरूपण किया है कि जगज्जन्मादि श्रुति निर्विशेष प्रतिपादक श्रुतियोंकी शेष क्यों है? निर्विशेष श्रुति ही सविशेष श्रुतिका शेष क्यों नहीं है? सू० भा० के ४।३।१४ में ही यह बात कही गयी है कि उत्पत्ति आदि श्रुतिका अभिप्राय ऐकात्म्य अवगम है। वह ब्रह्ममें अनेक शक्तियोंका निरूपण करनेके लिए नहीं है। २।१।१८ के भाष्यमें शक्ति और कार्यको ब्रह्मका आत्मभूत ही कहा गया है।

सृष्टि चाहे वास्तविक हो, चाहे काल्पनिक उसका वर्णन तो एक-सा ही किया जायगा। इसीलिए जो निश्चित और युक्तियुक्त होता है, वही ग्राह्य होता है, दूसरा नहीं (गौ० का० ३।२३)। इसके भाष्यमें आचार्य कहते हैं कि श्रुतिने गौण या मुख्यरूपसे जो भी सृष्टिका वर्णन किया है, वह आविद्यक सृष्टिके सम्बन्धमें ही है, परमार्थतः नहीं; क्योंकि मुण्डक श्रुति बाह्य और आभ्यन्तर सबको 'अज' बताती है। गौडपादकारिका ३।२७ में कहा गया है कि 'सद्वस्तुका जन्म मायासे ही हो सकता है, तत्त्वतः नहीं अर्थात् वह रज्जु-सर्पवत् है। 'अज'का जन्म वदतोव्याघात है। यदि अज भी जात ही है तो अनवस्था है। इसलिए सृष्टि-श्रुति तात्त्विक नहीं, मायिक सृष्टिका प्रतिपादन करती है।

२०. अब सामान्य-विशेष प्रक्रिया-की परीक्षा करते हैं। बृहदारण्यक २।४।७ में 'दुन्दुभि', २।४।८ में 'शंख' और २।४।९ में 'वीणा'का उल्लेख करके कहा गया है कि इनमें जो आघातजन्य सामान्य ध्वनि और विशेष ध्वनिके भेद होते हैं, उनमें-से सामान्यसे पृथक् करके कोई भी विशेष ध्वनियोंका ग्रहण नहीं कर सकता। वहाँ सामान्यसे व्यतिरिक्त कोई विशेष ध्वनि होती ही नहीं। इस दृष्टान्तसे यह सिद्ध होता है कि कोई भी शब्द-विशेष शब्दसामान्यसे व्यतिरिक्त नहीं होता। सामान्य भी अनेक प्रकारके होते हैं, वे महासामान्यसे व्यतिरिक्त नहीं होते। यही दशा स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि सामान्य-विशेषकी भी है। इसका अर्थ है कि सत्—सामान्यसे व्यतिरिक्त कोई भी सामान्य-विशेष नहीं है।

यह 'सत्'—सामान्य क्या है? जैसा कि नैयायिक मानते हैं—सम्पूर्ण प्रमेयविशेषमें अनुगत सत्ता ही सत्—सामान्य है। क्या वही सत्—सामान्य है? नहीं; क्योंकि वह भी आत्मचैतन्यसे व्याप्त ही है, इसलिए आत्मरूप साक्षीचैतन्यसे पृथक् नहीं है। यह कहना भी गलत है कि चिद्रूप आत्माको सत्तासे व्यतिरिक्त माननेपर वह असत् हो जायगा; क्योंकि आत्माका असत्त्व कभी माना ही नहीं जा सकता। इसलिए न चाहनेपर भी आत्माकी सद्रूपता स्वीकार करनी पड़ेगी। ठीक है, परन्तु यह तो सोचो कि सुषुप्ति, प्रलय आदिमें आत्मा तो विद्यमान रहता है, परन्तु उसमें सत्ता-सामान्य अनुगत नहीं रहता। क्या तुम उत्पत्तिके पूर्व भी द्रव्यादिका अस्तित्व स्वीकार करते हो? इस प्रकार तो तुम्हारे असत्कार्यवादका सिद्धान्त ही नष्ट हो जायगा। दूसरी बात यह है कि क्या कहीं सामान्य भी निर्विशेष होता है? इसलिए यह

आत्माका ही सदात्मक स्फुरण है, जो सामान्य तथा विशेषमें सत्-सत्के रूपमें अनुगत होता है। वह आत्माका स्वरूप ही है। सत्ता-सामान्य नामकी दूसरी वस्तु नहीं है। इस प्रकार व्यवहार-कालमें जो सामान्यविशेष भावका श्रौत वर्णन है, वह आत्माका महासामान्य समझानेके लिए नहीं है, प्रत्युत चिद्वस्तुसे व्यतिरिक्त सामान्य-विशेष भावका ही अभाव है। यह समझना सामान्य-विशेषरहित चिदात्मामें बुद्धिके प्रवेशके लिए है। निकृष्ट अर्थ यह है कि कार्य-कारणादि प्रक्रियाके समान ही सामान्य-विशेष-प्रक्रिया भी अध्यारोप और अपवादका ही अवान्तर भेद है।

वृहदारण्यक भाष्य २।४।९ में कहा गया है कि अनेक दृष्टान्तका अभिप्राय है—सामान्यकी अनेकताका ख्यापन। परस्पर-विलक्षण सभी चेतनाचेतन सामान्य-विशेष अन्ततोगत्वा एक महासामान्यमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। इसी दृष्टान्तसे यह बात समझायी जाती है कि अद्वितीय प्रज्ञानघनमें ही सबका समावेश है। वृहदा० भा० के २।४।७ में भी कहा है कि सामान्योंके ग्रहणसे विशेषोंका ग्रहण हो जाता है। परन्तु पृथक् रूपसे विशेषोंका ग्रहण नहीं किया जा सकता। स्वप्न और जाग्रत्में प्रज्ञानसे अतिरिक्त किसी भी वस्तुका ग्रहण नहीं होता। इसलिए प्रज्ञानसे अतिरिक्त सामान्य-विशेषका अभाव ही युक्तियुक्त है।

वैशेषिक दर्शनमें द्रव्य-गुण आदि सभी वस्तुओंके साथ 'सद् द्रव्यम्', 'सद् गुणः', 'सत्कर्मः' इत्यादि सत्की अनुगति दिखाते हैं। व्यवहार-कालमें तो उनका ठीक है, परन्तु उत्पत्तिके पूर्व वह 'कार्यको' सत् नहीं मानते। कार्यका प्रागभाव ही उनका सिद्धान्त है। कार्यकी उत्पत्तिके पूर्व एक, अद्वितीय सत्को भी स्वीकार नहीं करते। इसलिए वैशेपिक परिकल्पित सत्से विलक्षण है यह वेदान्तोक्त सत्। मिट्टी आदिके दृष्टान्तोंसे यह स्पष्ट है। (छान्दोग्यभाष्य ६।२।१)।

२१. 'मैं इसके द्वारा यह देखता हूँ'—इस त्रिपुटीको ही 'जगत्' कहते हैं। करणके द्वारा विषयोंमें व्याप्त होकर अनुभव करनेवालेका नाम 'द्रष्टा' है। चक्षु, श्रोत्रादि करण दर्शन हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि विषय दृश्य हैं। करण व्यापारका फल भी 'दर्शन' शब्दवाच्य है। जिसके होनेपर देखता है, सुनता है, विचार करता है, अनुभव करता है इत्यादि व्यवहार होता है, ऐसी स्थितिमें दृश्य विषयसे विवेक करके द्रष्टाके स्वरूपका निर्धारण ही 'द्रष्टृ-दृश्य-विवेक'के नामसे प्रसिद्ध है। द्रष्टा अहं प्रत्ययगम्य है और दृश्य इदं प्रत्ययगम्य है। इस प्रकार द्रष्टा और दृश्य अहं और इदंके रूपमें विभक्त

है। जो किसी भी अवस्थामें 'इदं' प्रत्यय-गम्य न हो, उसीको 'द्रष्टा' कहते हैं। 'इदं' प्रत्यय जिसको किञ्चित् भी छू लेता है, वह गौण अथवा मिथ्या द्रष्टा है। 'राजा दूतकी आँखसे देखता है'—इसमें राजाका देखना गौण है। देखा दूतने और राजामें उसका उपचार हुआ। देह, इन्द्रिय आदिमें यह 'द्रष्टा' है—ऐसी बुद्धि और शब्दप्रयोग गौण नहीं, मिथ्या हैं। चक्षु आदि इन्द्रियाँ सर्वथा ही 'द्रष्टा' नहीं हैं तथापि 'मैं ही देखता हूँ'—ऐसो हो' बुद्धि और शब्दप्रयोग होता है। बृहदारण्यक ४।५।१५ 'यत्र हि द्वैतमिव भवति' इस मन्त्रमें स्पष्ट ही कहा गया है कि द्रष्टा-दृश्यका विभाग आविद्यक द्वैतमें ही है। यह आविद्यक लौकिक दृष्टि अन्तःकरणकी वृत्ति होनेसे अनित्य है। वृत्तियाँ उत्पन्न होते ही चैतन्यसे व्याप्त हो जाती हैं और चिदाभास हो जाती हैं। इसलिए लौकिक पुरुष उन्हींको 'ज्ञान' कहते हैं। जो चैतन्यस्वरूप आत्माकी स्वभावभूता दृष्टि है वही पारमार्थिक दृष्टि है; क्योंकि वह नित्य और अलुप्त है। वस्तुतः उसमें द्रष्टा और दृश्यका भेद नहीं है। ठीक वैसे ही, जैसे सूर्य और उसके प्रकाशमें। इसी दृष्टिके कारण परमात्माको 'द्रष्टा' कहते हैं, परन्तु यह कथन भी उसके प्रकाश्य, दृश्य, अन्तःकरण, वृत्ति आदिकी अपेक्षासे ही है। यह सर्वथा द्रष्टा ही है, कभी दृश्य नहीं है। इसलिए यह परमार्थ द्रष्टा है। बृहदारण्यक ३।४।२ में कहा गया है कि 'दृष्टिके द्रष्टाको मत देखो, श्रुतिके श्रोताको मत सुनो, मतिके मन्ताका मनन मत करो, विज्ञातिके विज्ञाताको मत जानो, अरे! वह तो तुम स्वयं हो।' अन्तःकरण वृत्तिके आरोपकी अपेक्षासे लौकिक द्रष्टृत्व होता है। देह, इन्द्रिय, मन आदिमें अभिमानके कारण ही आत्मचैतन्यमें प्रमातृत्वका अध्यारोप है। इसीसे अपनेको देखनेवाला, सुननेवाला समझता है। प्रश्नोपनिषद् ४।९ में द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता—इसी विज्ञानात्मा पुरुषको कहा गया है। परमात्मासे अन्य द्रष्टा नहीं है। परमार्थ दृष्टिसे ही परमात्माको अलुप्त दृक् कहा गया है। बृहदारण्यक ३।७।२३ में 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि द्रष्टव्य है। जब लौकिक द्रष्टापनको सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें व्यभिचरित होते देखते हैं, तब त्रिपुटीरहित सर्वव्यवहारातीत ब्रह्मात्माका ज्ञान हो जाता है और उस ज्ञानसे द्रष्टा-दृश्य विभागका अपवाद हो जाता है।

'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत् तत् केन कं जिघ्रेत् तत् केन कं रसयेत् तत् केन कमभिवदेत् तत् केन कं शृणुयात्

तत् केन कं विजानीयाद् येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ४।५।१५)।

विशेषात्मा अविद्या-कल्पित कार्य-कारण संघातकी उपाधिसे जनित एक अधूरा भाव है। अद्वैत ब्रह्ममें उसीके कारण द्वैत-सा भासता है। इस द्वैत-प्रतीतिमें ही अपरमार्थ, परिच्छिन्न आत्मा, जो कि जलमें प्रतीयमान चन्द्रमाके समान प्रतिबिम्ब-सदृश है, घ्राता आदि बनकर घ्राण प्रभृति इन्द्रियोंसे विषयोंको ग्रहण करता है। यहाँ कर्त्ता-कर्म आदि कारक-भेद और सूँघना आदि क्रिया तथा फलका भेद मिथ्या ही है (बृ० भा० २।४।१४)।

'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' इस बृहदारण्यक ३।४।२ की व्याख्यामें आचार्यने कहा है कि 'दृष्टि दो प्रकार-की होती है—एक लौकिक और दूसरी पारमार्थिक। चक्षुसंयुक्त अन्तःकरणकी वृत्ति लौकिक है; क्योंकि वह की जाती है, पैदा होती है और नष्ट भी हो जाती है। परन्तु जो अग्निकी उष्णता अथवा प्रकाश आदि-के समान आत्माकी दृष्टि है, वह तो द्रष्टाका स्वरूप ही है। इसलिए न वह पैदा होती है और न वह नष्ट होती है। क्रियमाण जो अन्तःकरण-की वृत्तिरूप उपाधि है, उसीके कारण उसे दृश्यका 'द्रष्टा' अथवा द्रष्टा और दृष्टि—इस प्रकारका भेद-युक्त-व्यवहार-का विषय बनाते हैं। जो लौकिक दृष्टि है, वह चक्षुके द्वारा उत्पन्न होकर नित्य आत्मदृष्टिसे संसृष्टके समान उसकी प्रतिच्छाया ही है। वह पैदा होती और मिटती है, परन्तु एक ही आत्मदृष्टि दोनोंमें अनुगत रहती है। वृत्तिके कारण ही गौण प्रयोग होता है—'द्रष्टा देखता है, द्रष्टा नहीं देखता है।' द्रष्टा और दृष्टिका भेद मिथ्या है इसलिए उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता है। (देखिये बृ० ४।३।७ और ४।३।२३)—बृ० भा० ३।४।२।

बृहदारण्यकमें ४।३।२३ से ३० तकके मन्त्रोंमें द्रष्टाकी ज्ञान-स्वरूपता और अविलुप्त दृक्‌का निरूपण है। गम्भीर दृष्टिसे देखनेपर स्पष्ट अनुभव होता है कि ज्ञाता और ज्ञेय दोनों ही ज्ञानके विवर्त हैं। ज्ञानमें भेद प्राति-भासिक है। ३० वें मन्त्रके भाष्यमें स्पष्ट कहा गया है कि जाग्रत्, स्वप्नमें उपाधिद्वारा चैतन्यज्योतिको ही दृष्टि आदि शब्दसे कहते हैं। और सुषुप्तिमें उपाधिभेदका व्यापार निवृत्त हो जानेपर अनुद्भास्य अथवा अनुप-लक्ष्यमाण भी कहते हैं। यह उपाधि-का ही भेद है, वस्तुका नहीं। इसीसे आत्माके लिए ज्ञेय और अज्ञेय दोनों ही पदोंका प्रयोग होता है।

छान्दोग्य उपनिषद्के ८।१२।४ में आत्माका स्वरूप ज्ञानमात्र कहा गया है। जो सूँघना, बोलना, सुनना,

सोचना—सबको जानता है, आत्मा है। यह बोलनेकी शैली वैसी ही है, जैसे कोई कहे—'जो सामने प्रकाशित करता है, वह सूर्य है, जो दाहिने प्रकाशित करता है, वह सूर्य है। जो बायें, पीछे, ऊपर प्रकाशित करता है, वह सूर्य है।' इसका अर्थ है कि सूर्य प्रकाशस्वरूप है।

बृहदारण्यक १।४।७ में 'अकृत्स्नो हि स प्राजन्नेव प्राणो नाम भवति' इत्यादि मन्त्रको व्याख्या करते हुए कहा गया है कि प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन—ये सब आत्माके कर्मज नाम हैं और परिच्छिन्नताके द्योतक हैं। अपनेको क्रिया-विशिष्ट जानना अधूरा जानना है। आत्मा वह है जो सब विशेषणोंमें व्याप्त है और उनका उपसंहार-स्थल भी है। इसका अर्थ है कि विशेषण बाधित है और आत्मा अबाध सत्ता है।

यह ध्यान देनेयोग्य है कि औपाधिक होनेके कारण द्रष्टृत्व आदि सम्पूर्ण नहीं हैं, आत्माके परिच्छिन्न-रूप ही हैं। भिन्न-भिन्न उपाधियोंके कारण ही भिन्न-भिन्न नाम, रूप और कर्मका आरोप होता है। केवल ज्ञप्ति-स्वरूप आत्मा ही परमार्थद्रष्टा है।

२२. अब पञ्चकोश-विवेककी प्रक्रियापर विचार करते हैं। तैत्तरीय श्रुतिका कहना है कि 'सत्य, ज्ञान, अनन्त' ब्रह्मका लक्षण है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। इसके बाद इसीको बुद्धि गुहामें वेदितव्य बतलाया गया है। ज्ञानकी रीतिको विशद करनेके लिए ब्रह्मात्मासे आकाशादिरूपमें क्रमशः भूत सृष्टि बतायी गयी है। तदनन्तर भौतिक अन्न-रसमय देहकी उत्पत्ति कही गयी है—'अन्नात् पुरुषः'। साधारण जन इसी देह-पुरुषको आत्मा कहते हैं। इसी आरोपका अनुवाद करके फिर श्रुति कहती है कि यह आत्मा नहीं है। इससे अन्य और अन्तरंग आत्मा है—प्राणमय। इस प्रकार अन्नमयमें स्वाभाविक आत्मबुद्धिको प्राणमयमें सञ्चारित करते हैं। इसी क्रमसे धीरे-धीरे मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमयमें ले जाकर उसके पुच्छरूपसे ब्रह्मका निरूपण करती है और इस प्रकार वही इसका अन्तरतम आत्मा है—यह निर्देश करती है। एक पुरुषके पाँच आत्मा नहीं हो सकते। बहिरंग आत्मा बुद्धिको अन्तरंगमें परिनिष्ठित करना इसीमें श्रुतिका तात्पर्य है। उत्तर-उत्तर कोशमें आत्म-बुद्धिका आरोप करके पूर्व-पूर्व कोशकी आत्मबुद्धिका अपवाद किया गया है। अन्ततः परमार्थ आत्मा ब्रह्ममें ही आत्मबुद्धिको स्थिर किया गया है। इस-लिए पञ्चकोश निरूपणकी प्रक्रिया भी एक उपाय है—यह निश्चय होता है।

गौडपाद-कारिका ३।११ में कहा है कि तैत्तिरीय उपनिषद्‌में जो अन्न-रसमय कोशसे आनन्दमय कोश तक

व्याख्या की गयी है, उनसे परे आत्मा ब्रह्म है।

तैत्तिरीय भाष्यमें २।२ में कहा गया है कि पञ्चकोशसे अन्तरतम ब्रह्मको प्रत्यगात्म रूपसे ज्ञात करानेके लिए शास्त्र ठीक उसी प्रकार अविद्या-कृत पञ्चकोशका अपवाद करता है, जैसे कोंदोके अनेक छिलके दूर करके सर्वान्तर तन्दुलको प्रकट किया जाता है।

जो पञ्चकोश और पञ्चभूतसे परे है, वही सबका परमार्थ आत्मा है। (तैतिरीय भा० २।३ ।

२३. अब अवस्थात्रय-विवेककी प्रक्रिया पर विचार करते हैं। जीवकी तीन अवस्थाएँ प्रसिद्ध हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति। इनमें स्वप्न और जाग्रत् दर्शन-वृत्ति हैं और सुषुप्ति अदर्शनवृत्ति। इन दोनोंके अतिरिक्त अन्य किसी वृत्तिका होना सोचा तक नहीं जा सकता। इसलिए इनमें ही सब अवस्थाओंका और ज्ञेयोंका भी अन्तर्भाव हो जाता है। चैतन्यरूप आत्माके आश्रयसे ही अवस्थाओंको सत्ता-स्फूर्ति मिलती है। वे बदल जाती हैं और उनके धर्मसे असंसृष्ट चैतन्य सर्वत्र अनुगत रहता है। आत्मचैतन्यके विना उन अवस्थाओं और उनके प्रपञ्चकी उपलब्धि नहीं हो सकती। इसलिए वे सब मिथ्या हैं और आत्मा ही सत्य है। सुषुप्तिमें आत्मा सदात्मासे एक रहता है, इसलिए निष्प्रपञ्च सदात्मा ही आत्माका स्वभाव है—यह निश्चय होता है।

यही तीन ज्ञेय हैं। इनसे व्यतिरिक्त ज्ञेयकी सिद्धि नहीं है। (गौ० का० भा० ४।८८)। क्योंकि यह आत्मा स्वप्नान्त और जागरितान्त—दोनोंको देखता है। इसलिए जो धीर पुरुष इस महान् विभु आत्माको जान लेता है, उसको शोक नहीं होता (कठ० २।१।४)। यह आत्मा स्वप्नमें रमण और विचरण करके पुण्य-पापको देखकर फिर जागरणमें आ जाता है। स्वप्नका रमण, आचरण, पाप, पुण्य कोई भी वस्तु जागरणमें नहीं आती। यह पुरुष असंग है (बृ० ४।३।१६)। यही बात (बृ० ४।३।१७) में कही गयी है। प्रज्ञानके अतिरिक्त स्वप्न और जाग्रत्में किसी वस्तु-विशेषका ग्रहण नहीं होता, इसलिए प्रज्ञानसे व्यतिरिक्तरूपमें उनका न होना युक्ति-युक्त ही है। (बृ० भा० २।४।७)। जब यह पुरुष सोता है तब 'सत्‌से एक हो जाता है। 'स्वमें 'लीन होनेसे ही 'स्वपिति' कहा जाता है; क्योंकि वह उस समय स्वलीन होता है (छां० ६।८।१)। यद्यपि सभी अवस्थाओंमें आत्मा निर्विशेष 'ज्ञ': स्वरूप ही रहता है तथापि अवस्थाएँ परस्पर एक-दूसरेमें नहीं रहती हैं। इसलिए रज्जुमें कल्पित सर्प, धारा आदि

विकल्पके समान वे मिथ्या ही होती हैं। 'ज्ञः स्वरूप आत्मा सर्वत्र अव्यभिचरित होनेसे सत्य है (मा० भा० ७)।

२४. जाग्रत् अवस्थामें कार्यकरणका अभिमानी होनेके कारण प्रमातृत्व-सा होता है। सुषुप्ति अवस्थामें कार्य-करणके अभिमानका उपशम हो जानेसे प्रमातृत्वकी भी निवृत्ति-सी हो जाती है। इसीलिए श्रुति कहती है कि उस समय 'सद् ब्रह्मके साथ सम्पत्ति और स्वरूपमें लय हो जाता है। किसीकी कभी स्वरूपसे प्रच्युति नहीं हो सकती। इसलिए जाग्रत् अवस्थामें जो प्रमातापन है, वह मिथ्या आभासमात्र है—ऐसा सिद्ध होता है। स्वप्नावस्थाके प्रमातृत्व पर विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है। यह बात सर्व-सम्मत है कि स्वप्नावस्थामें वास्तविक शरीर अथवा इन्द्रियोंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता, फिर भी जाग्रद्-अवस्थाके समान ही श्रोता, मन्ता, विज्ञाता आदि रूप प्रमाता भासता है। यह बात सुप्रसिद्ध है। इस दृष्टान्तसे यह सिद्ध होता है कि जाग्रत्में भी प्रतिभासमान प्रमातापन मिथ्या उपाधिकृत ही है। दोनों अवस्थाएँ एक-सी ही भासती हैं। 'स्वप्न भी जाग्रत् ही मालूम पड़ता है। किसी भी असाधारण चिह्नके द्वारा स्वप्न और जाग्रत्को पृथक् नहीं किया जा सकता। स्वप्न स्वकालमें जाग्रत् ही है, वैसे ही जाग्रत् भी। अन्य अवस्थाओंमें तो जाग्रत्की स्मृति भी नहीं होती। सुषुप्तिकी श्रुत्युक्त स्वरूपापत्ति जीवके सहजरूपका बोधक है। जाग्रत्-स्वप्नमें अविद्या-कल्पित प्रमातृत्व रूप पररूपापत्ति मिथ्या है। इसको अपेक्षासे ही उसको स्वरूपापत्ति कहा गया है। इसलिए यह स्वरूपापत्ति और पररूपापत्ति अध्यारोप-अपवादके अनुसार ही हैं ब्रह्मात्मैक्य बोधके लिए।

प्रश्नोपनिषद्के ४।९ में द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता और विज्ञानात्मा, इस स्वप्न-जाग्रत्-कालीन प्रमाता पुरुषकी ही अक्षर-स्वरूप परमात्मामें सम्प्रतिष्ठा कही गयी है। इसके भाष्यमें आचार्यने कहा है कि कार्यकरण संघातरूप उपाधिको पूरण करनेसे पुरुष है। जैसे जलमें दीखता हुआ सूर्यका प्रतिबिम्ब जलके न रहनेपर सूर्यमें प्रवेश कर गया—ऐसा कहा जाता है, इसी प्रकार अन्तःकरणके सुषुप्त होने पर आत्मा परमात्मामें प्रवेश कर गया है—ऐसा कहा जाता है। अथवा अन्तःकरणके बाधित हो जानेपर आत्मा-परमात्मा एक है—ऐसा कहा जाता है। वस्तुतः लय और एकता दोनों ही कृत्रिम नहीं हैं। उपाधिके होने अथवा लयबाधकी अपेक्षासे उनका निरूपण किया जाता है।

सू० भा० ३।३।३० में कहा गया है कि अविद्यासे कल्पित द्वैतसे मिल कर आत्मा जाग्रत्-स्वप्नमें कर्त्ता और दुखी होता है। दोनों अवस्थाओंके श्रमको दूर करनेके लिए वह अपने आत्मस्वरूप ब्रह्ममें प्रवेश कर जाता है और कार्य-करण-संघातसे मुक्त होकर संप्रसाद अवस्थामें अकर्त्ता और सुखी हो जाता है।

किसी अवस्थामें जीव, ब्रह्म सम्पन्न नहीं रहता है—ऐसा नहीं; क्योंकि अपना स्वरूप अविनाशी है। स्वप्न और जाग्रत् अवस्थामें उपाधि सम्पर्क वश, जो पररूपापत्ति भासती है, उसकी अपेक्षासे सुषुप्तिमें स्वरूप-प्राप्ति कही जाती है; क्योंकि उस समय उपाधि-सम्पर्क उपशान्त हो जाता है (सू० भा० ३।२।७)। स्वप्नावस्थामें बुद्धि या कर्मके लिए उचित निमित्त भी नहीं रहते हैं। उस समय करणोंका उपसंहार हो जानेके कारण रथादि विषयका दर्शन करनेके लिए चक्षु आदि इन्द्रियाँ नहीं रहती हैं। निमेष मात्रमें ही रथादिके निर्माण अथवा काष्ठादिकी प्राप्तिमें सामर्थ्य कहाँ है (सू० भा० ३।२।३)। श्रुति 'इव'के साथ जोड़कर ही स्वप्न-व्यापारका वर्णन करती है। वृहदारण्यकमें कहा है कि स्त्रियोंके साथ आनन्दित-सा, भोजन करता हुआ-सा, भयके निमित्त देखता हुआ-सा (४।३।१२)। इस 'सा-सा'का अर्थ ही यह है कि वहाँ कुछ नहीं है। लोक-व्यवहारमें भी इसी प्रकारका कथन किया जाता है—'मैं गिरि-शृंगपर चढ़-सा गया, मैंने बनपंक्ति-सी देखी।' (सू० भा० ३।३।४०)। बुद्धयादि उपाधिके स्थान-विशेषके योगसे उद्भूत विशेष-विज्ञानका उपाधिके शान्त होने पर उपशम हो जाता है। वह परमात्माके साथ सम्बन्ध है, परन्तु उपाधिकी अपेक्षासे ही नाम मात्रके लिए सम्बन्ध कहा जाता है, परिमितताकी अपेक्षासे नहीं (सू० भा० ३।२।३४)।

२५. प्रश्न यह है कि सुषुप्तिमें आत्मचैतन्य रहता है या नहीं? क्योंकि छांदोग्यमें कहा गया है कि 'मैं यह हूँ' या 'ये भूत हैं'—इस प्रकारका ज्ञान सुषुप्तिमें नहीं होता। उस समय विनाश-दशाको प्राप्त हो जाता है (८।११।२)। यही तो सुषुप्तिका सुषुप्तिपना है कि उसमें कुछ नहीं जाना जाता। यदि कुछ जाना जाय तो स्वप्न-जाग्रत्के समान वह भी दर्शनवृत्ति रूप ही हो। फिर तो अवस्थान्तरकी सिद्धि नहीं होगी, इसलिए सुषुप्तिमें कुछ उपलब्धि न होनेके कारण शून्यको ही परमार्थ क्यों न माना जाय?

इसका उत्तर यह है कि अनुभवको कोई काट नहीं सकता। 'सुषुप्तिमें मैंने कुछ नहीं जाना'—यह परामर्श वही कर सकता है, जिसे सुषुप्ति-

कालीन अज्ञानका अनुभव हो। यह अनुभूति ही आत्माका स्वरूप है इसलिए उसका अपलाप कोई नहीं कर सकता। इसलिए शून्यवादके लिए कोई अवसर नहीं है। श्रुति जो उस समय अपने और दूसरेके ज्ञानका अभाव बताती है, वहाँ विशेष विज्ञानके अभावसे अभिप्राय है। वैसा हो, इससे हमारे सिद्धान्तकी हानि नहीं है। सुषुप्तिमें दर्शन-श्रवणादि रूप विशेष विज्ञानकी प्रतिज्ञा किसने की है? उसका उपशम ही तो सुषुप्त है। वहाँ आत्माका ज्ञानस्वरूप न होना विशेष विज्ञानके अभावका कारण नहीं है, किन्तु 'ज्ञेयका अभाव है। वृहदारण्य ४।३।३० स्पष्ट रूपसे इसका वर्णन करती है।

यद् वै तन्न विजानाति विजानन् वै तन्न विजानाति न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात्।

इसका अभिप्राय यह है कि 'न जानने'में भी जानना है। विज्ञानका लोप कभी नहीं होता। वहाँ दूसरा कोई है नहीं—इसलिए दूसरेको नहीं जानता। इसलिए चैतन्य ही आत्माका स्वरूप है, जैसे प्रकाश सूर्यका। वहाँ किसी दूसरेको प्रकाशित न करना—सब कुछ चिदतन्य है, इसलिए है। (देखिये छा० ६।९।२ और बृ० ४।३।२१)।

सू० भा० के १।३।१९ में और २।३।१८ में भी इस विषयका संकेत है।

सू० भा० के ३।२।७ में भी यही बात कही गयी है। बृ० भा० के ४।३।२१ में भी यही द्रष्टव्य है। ●

आप कौन हैं?

एक जिज्ञासुने श्री उड़िया-बाबाजी महाराजसे प्रश्न किया—'आप कौन हैं? ब्रह्मा, विष्णु अथवा महेश?' महाराजजी मस्ती भरे स्वरमें बोले—'मेरे रोम-रोममें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड और कोटि-कोटि ब्रह्मा, विष्णु और महेश चमकते और बुझते रहते हैं। कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड और उनके ब्रह्मा, विष्णु मेरे संकल्प-बिन्दुके छोटे-छोटे सीकर हैं। मेरे स्वरूपमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड और ब्रह्मा, विष्णु पर्वत-शिलामें अनगढ़ी मूर्तिके समान अदृश्य हैं। मेरे अनन्त, अद्वय चिदाकाश स्वरूपमें दूसरी किसी वस्तुका अस्तित्व ही नहीं है और वे सस्वर संगीतमें गाते हुए मस्तीसे तन गये।

आकाशकोषतनवोऽतनवो महान्तः तस्मिन् पदे विगतचित्तलवा वसन्ति।

महात्माका शरीर है आकाश—चिदाकाश। वे वस्तुतः निराकार हैं। वे चित्तलेशसे रहित ब्रह्मस्वरूप हैं। ●

कृपाके विलास

१. ईश्वरवादी मानव समाजमें यह सिद्धान्त सर्वसम्मतिसे मान्य है कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, अपराधीन, परमप्रेमास्पद एवं परमकृपालु है। किसी-किसी सम्प्रदायमें ऐसा स्वीकार करते हैं कि ईश्वर सर्वथा स्वतन्त्र होनेपर भी प्रेमके परतन्त्र है। इसमें यह प्रश्न है कि ईश्वर जीवके हृदयमें रहनेवाले प्रेमके परतन्त्र है अथवा अपने हृदयमें रहनेवाले प्रेमके? जीव जैसे भगवान्के सौन्दर्य, औदार्य, सौशील्य, माधुर्य आदि सद्गुणोंको देखकर उनपर मुग्ध हो जाता है, तो ईश्वर जीवके किन गुणोंको देखकर उसके प्रति मुग्ध होता है? वस्तुतः ईश्वर किसी अन्यके गुणोंको देखकर मुग्ध नहीं होता। उसमें ही उसका स्वरूपसिद्ध कोई सहज स्वाभाविक गुण है कि वह स्वयं अपनी कृपा बरसाने लगता है। 'मेघ जलमय प्रभु कृपामय', 'कृपैव प्रभुतां गता', 'प्रभु मूरति कृपामयी है।' प्राचीन ग्रन्थोंमें कारुण्य, कृपा, अनुकम्पा, अनुग्रह, पुष्टि, दया आदिके नामसे एक ही वस्तु प्रसिद्ध है और वह है भगवान्का सहज स्वभाव। वह नैमित्तिक नहीं है, भागवत आनन्दका सरल-सरल, तरल-तरल पावन प्रवाह है।

२. भगवत्सम्बन्धी अनेक प्रश्नों और समस्याओंका समाधान उनकी कृपामें ही निहित है, जैसे निराकार साकार क्यों होता है? अव्यक्त व्यक्तिके रूपमें क्यों प्रकट होता है? पूर्ण परिच्छिन्न कैसे होता है? अकाल कालकी धारामें कैसे आ जाता है? कारण कार्यके रूपमें कैसे परिणत होता है? वह मनुष्य, पशु-पक्षी आदिके रूपमें क्यों अवतीर्ण होता है? असम्बन्ध होनेपर भी सम्बन्धी क्यों बनता है? इन सबका और ऐसी अनेक मानसिक विकल्प ग्रन्थियोंका, बौद्धिक उलझनोंका एक ही समाधान है—दृश्यके अनेक नामरूपमें अजस्र, प्रवहमान एवं तरंगायमान कृपा-स्रोतस्विनीकी अखण्ड धारा। सत् पुरुष अपने अन्तर्दर्शिनी, तत्त्वावगाहिनी दृष्टिसे इसका सन्तत दर्शन करते रहते हैं। कृपा एक दर्शन है, भाव नहीं। श्रीमद्भागवतमें अनुकम्पासे समीक्षणका वर्णन है, प्रतीक्षणका नहीं। समीक्षण प्राप्तका होता है और प्रतीक्षण अप्राप्तका। सम्पूर्ण जीव-जगत्का कृपामय परमेश्वरमें ही उन्मज्जन-निमज्जन हो रहा

अनन्तश्री स्वामी
अखण्डानन्द जी सरस्वती

● •

है। कृपा-प्राप्तिकी लालसा मत करो, उसको पहचानो।

३. श्रीमद्भागवतके व्याख्याकार महापुरुषोंने कहा है कि जब श्री यशोदा माताने बालकृष्णको बाँधनेके लिए हाथमें रस्सी उठायी तो भगवान्की स्वतःसिद्ध अनेक शक्तियाँ उसमें बाधा डालनेके लिए उद्यत हो गयीं। व्यापकता कहती थी कि जिसका ओर-छोर नहीं, वह रस्सीकी लपेटमें कैसे आयेगा? पूर्णता कहती थी कि जिसमें बाहर-भीतर नहीं, वह रस्सीके भीतर कैसे अँटेगा? असंगता घोषणा कर रही थी कि प्रभुके शरीरके साथ रस्सीका संग असम्भव है। अद्वितीयताने स्पष्ट मना कर दिया कि 'स्वमें' स्वका क्या बन्धन? बन्धन परके साथ होता है। इस आपाधापीके समय श्रीमती भगवती भास्वती कृपादेवी मन-ही-मन मुस्कुरा रहीं थीं। उन्होंने एकबार अपनी तिरछी चितवनसे देखा और सब शक्तियाँ निष्प्राण-सी धरी-की-धरी रह गयीं। बालकृष्ण प्रभु बन्धनमें आ गये। दामोदर नाम-रूप प्रकट हो गया। भक्त केवल प्रेमकी रस्सीसे ही नहीं, पशु बाँधनेकी रस्सीसे भी प्रभुको बाँध लेते हैं। भक्तमें इतना सामर्थ्य कहाँसे आता है? इस प्रश्नका उत्तर है—'कृपयासीत् स्वबन्धने।' ठीक ही है, भगवती कृपा ही शक्ति-चक्रवर्तिनी हैं, भगवान्की प्रेयसी पटरानी।

४. जब घर-बाहर-सर्वत्र प्रलयाग्निको ज्वाला धधकने लगती हैं। अपने पाप-तापकी मायासे सम्पूर्ण विश्व झुलसने लगता है, उस समय एक सच्ची माँ जैसे अपने शिशुओंको गोदमें उठा लेती है, वक्षःस्थलसे चिपका लेती है, उनको बाहरकी ताती वायु भी नहीं लगने देती, उनकी शय्या बन जाती है, अपने छातीके दूधसे ही उनका पालन-पोषण करती है, वैसे ही महाप्रलयके समय भगवान् सब जीवोंको अपनी ही सत्ता, ज्ञान और आनन्दमें लीन कर लेते हैं। उनके संस्कार-शेष बीजके सिवाय अर्थात् उनके जीवत्वके सिवाय और कुछ भी शेष नहीं छोड़ते। जैसे माँके गर्भमें शिशु समग्र संपोषण और संवर्द्धन प्राप्त करता है, उसी प्रकार यह जीव ईश्वरके गर्भमें विश्राम, आराम, शान्ति और पुष्टि प्राप्त करता है। महाप्रलयके समय भी इस प्रकार जीवकी शय्या बनकर

उसे आराम देना और प्रलय-कालानलके तापसे बचा लेना यह भगवान्‌की कृपाका ही एक स्वरूप है। यह जननी-कृपा है और जीवके जीवनमें भी सर्वदा ही अनुगत रहती है। जब-जब जीवका पौधा मुरझाने लगता है तब-तब उसकी वृद्धि-समृद्धि एवं पुष्टि-तुष्टिके लिए वह जननी ही उज्जीवनी बनकर आती है। आप किसी भी जीवके जीवनमें इस माँका दर्शन कर सकते हैं। यह उपवास और भोजन, शोषण और पोषण, प्रक्षालन और स्नेहन—सभी प्रक्रियाओंसे जीवका हित करती रहती है। इसको पहचाननेमें देर-सबेर हो सकती है, परन्तु इसके क्रियान्वयमें कभी कोई रुकावट नहीं पड़ती।

५. प्रलयके समय जीव शयनमें होता है। विस्मृति और अज्ञानका गहरा पर्दा इसको चारों ओरसे आच्छादित करके रखता है। उसे कोई दुःख-चिन्ता नहीं है—यह तो ठीक है। परन्तु इस शयन-दशामें कुछ धर्म, अर्थ, भोग, मोक्ष भी तो नहीं है। कोई शिशु सोता ही रहे निद्रा-तन्द्रामें अलसाया हुआ निकम्मा पड़ा रहे—यह बात किसी भी वात्सल्यमयी जननीको कैसे रुचिकर हो सकती है? वह चाहती है कि हमारा बेटा उठे, भले-बुरेको पहचाने, कुछ करे, कुछ कमाये, अपने पौरुषसे कुछ भोगे। भला कौन ऐसी माँ होगी, जो यह न चाहे। वही माँ अपने बालकको जगाती है। एक-एकको अलग-अलग जगाती है। एक साथ जगाती है। सबके आलस्य भगाती है। स्नान-मार्जन कराती है। हाँ, वही माँ जो जननी थी, प्रबोधनी हो गयी। वह प्रबोधनी कौन है? वह प्रभुकी कृपा है। यदि यह जीव प्रलयकी प्रगाढ़ निद्रामें सोता ही रहता तो क्या इसको किसी पुरुषार्थकी प्राप्ति होती? सोते हुए जीवोंको जागरण-दशामें लाना यह प्रबोधनी कृपा है।

६. श्रीमद्भागवतमें, सोते हुए ग्वाल-बालोंको जगानेके लिए स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् शृङ्ग-ध्वनि करते हुए आते हैं—'प्रबोधयन् शृङ्गरवेण चारुणा।' जागरणके पश्चात् श्रीकृष्णके साथ ही वे भव-वनमें प्रवेश करते हैं। अनेक रूप-प्रपञ्चका दर्शन होता है। यदि ईश्वर चैतन्य साथ न हो तो न प्रपञ्चका दर्शन हो और न उसकी क्रीड़ा हो, इसलिए यहाँ आकर कृपा ही प्रपञ्चनी हो जाती है, अर्थात् अनेक प्रकारके दृश्योंका सर्जन-विसर्जन करने लगती है। जो कुछ कारणशरीरमें लुप्त, गुप्त या सुप्त था, उसको वह विस्तारके साथ

फैलाती है। अन्तःकरण, बहिःकरण, विषय, प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश, मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि सभी स्थूल-सूक्ष्म विषयोंका विस्तार, प्रचार, प्रसार प्रपञ्चनी कृपा ही करती है। अविद्या निद्रामें सुषुप्त जीवको जहाँ कुछ भी प्रतिभात नहीं होता था, वहाँ अब सब कुछ प्रतीत होने लगा। शिशुके नेत्र खुल गये, मन काम करने लगा। यह जो दृश्य, दर्शनकी सामान्य शक्ति है वह प्रबोधनी है और जो दृश्यकी अभिव्यक्ति है वह प्रपञ्चनी है।

७. अब कृपाका एक नया विलास प्रकाशमें आता है। बिना इस कृपाकी अभिव्यक्तिके कोई भी प्राणी अपनी अनुकूलता और प्रतिकूलताको, सुपथ्य और कुपथ्यको नहीं जान सकता। वृक्ष अपनी वृद्धिके लिए कहाँसे मुड़े? चींटी शक्करके साथ कैसे जुड़े? पक्षी कौन-सा चारा खाये? पशु कौन-सी घास चरे? यह भोजन जीवनका साधन है और यह मरणका—यह कैसे जान पड़े? करना, न करना, खाना, न खाना, छिपना, प्रकट होना, बोलना, न बोलना—ये सब प्राणियोंको कैसे ज्ञात हो? सचमुच वही वात्सल्यमयी जननी कृपा-प्रशिक्षणी रूप धारण करके जीवनमें विशेष ज्ञानकी एक धारा प्रवाहित करती है। अग्निका स्पर्श दाहक है। माताका वक्षःस्थल वाहक है। पाँवसे चलना, हाथसे खाना, प्यास लगनेपर जल पीना, इष्ट-अनिष्टकी पहचान कराना—यह सब भगवान्‌की प्रशिक्षणी कृपा का विलास है।

८. इसी प्रशिक्षणसे जीवनमें प्रणयन अर्थात् निर्माणका अवतरण होता है। जीवनके प्रणयनका मूल प्रशिक्षण ही है। इसके बिना जीव-जगत् सब अन्धे ही रहें। अन्तरमें बैठकर प्रवृत्ति और निवृत्तिके लिए उन्मुख कौन करता है? वह अन्तःप्रविष्ट शास्ताकी प्रशासनशक्ति ही है। वह सभी वस्तुओं, व्यक्तियों और भावोंका परस्पर विलक्षण विशेष-विशेष रूप, आकृति, गुण, धर्म, स्वभावकी रचनामें भिन्न-भिन्न प्रकारका उत्पादन, सम्भरण और संहरण क्यों करती है? वह किसीके पूर्व-संस्कारोंका अनुगमन अथवा नवीनीकरण ही क्यों करती है? विचारदृष्टिसे देखनेपर वह शक्ति किसी हेतु, निमित्त या प्रयोजनसे प्रेरित नहीं जान पड़ती। जब शक्ति अहैतुक ही कार्य करती है तो प्रणयनी कृपा के सिवाय

उसके लिए दूसरा नाम नहीं हो सकता। //

९. इसी प्रणयनके अनन्तर इष्ट-अनिष्टका भाव परिपक्व हो जाता है। तब इष्टकी प्राप्तिकी इच्छा होती है और अनिष्टकी परिजिहीर्षा। यह इच्छा ही अभिलाषणी कृपा का रूप है। जो अभिलाष देता है, वही प्राप्त भी कराता है और प्राप्तिके साधन भी देता हैं। धर्म, अर्थ, काम—कुछ पाना है। उसके लिए लौकिक वैदिक कर्म चाहिए। कर्मके करण-उपकरण चाहिए। कर्मका अधिकारी कर्ता चाहिए। उपयुक्त स्थान और समय चाहिए। सहायक और सामग्री चाहिए। फलकी प्राप्तिके साथ-साथ उसमें रुचि चाहिए। उसके भोगके योग्य शरीर चाहिए। निर्विघ्न निर्वाह चाहिए। विशेष ज्ञान चाहिए। यह सब लेकर कौन आता है? प्रभुकी प्रापणी कृपा के ही ये भिन्न-भिन्न रूप हैं। यह है सर्वदा, सर्वत्र, सबपर; परन्तु पहचानता है कोई-कोई।

१०. अनुकूल अथवा प्रतिकूल वस्तुकी प्राप्ति होनेपर दातापर दृष्टि जानी चाहिए, परन्तु कुछ ऐसी मोहमयी लीला चल रही है कि अनुकूलमें राग हो जाता है, प्रतिकूलमें द्वेष और दातापर दृष्टि नहीं जाती। रागसे पक्षपात और द्वेषसे क्रूरताका जन्म होता है। रागमें स्वाद और द्वेषमें कटुता; परन्तु ऐसा क्यों होता है? ऐसी दशामें प्रभुकी कृपा कहाँ प्रसुप्त हो जाती है? गम्भीरतासे देखो तो वह कहीं जाती नहीं है। हमारी स्वतन्त्र विवेकशक्तिको जाग्रत् करती रहती है। क्या कल्पित गणित ठीक-ठीक सीख लेनेपर वास्तविक गणितका साधन नहीं बनता? बिना सुख-दुःखके झकोरे सहन किये किसके जीवनमें स्फूर्तिका उदय हुआ है? फिर भी हम मान लेते हैं कि राग-द्वेष विवेककी ओर नहीं, मूर्च्छा अथवा मोहकी ओर ढकेलते हैं। एक ऐसी मोहनी माया छा जाती है कि उससे देवता-दैत्य ही नहीं, शिव भी मोहित हो जाते हैं। यह मोहनी आत्माकी अक्षुण्ण प्रकाश-शक्तिपर ही आधारित है। जो मोहनी देवता-दैत्य—दोनोंके लिए लोभनी है वही फलकी प्राप्ति और अप्राप्ति—दोनों ही दशामें क्षोभणी हो जाती है और परिणामतः देवासुर-संग्राम होता है। इस संग्राममें कृपा भक्तके प्रति उत्कर्षणी और अभक्तके प्रति अपकर्षणी होकर प्रकट होती है। यही दैत्यराज बलिके भी सर्व-स्वात्मसमर्पण और भगवद्वशीकरणमें हेतु बनती है। प्रह्लाद

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

WITH
BEST
COMPLIMENTS

From :

Smt.
Laxmiben
Sevakram

Gazdar House
DHOBI TALAO
BOMBAY-2

इसको पहचानते हैं। बलिकी धर्मपत्नी भी। यह मोहनी कृपा किसीको जहाँ-का-तहाँ जड़ बना देती है और रोधनी संज्ञा धारण करती है। किसीके मनमें विरोध उत्पन्न करके विरोधनी बन जाती है और उसका स्मरणोद्दीप्त मन प्रभुके सम्मुख कर देती है। इस प्रक्रियामें जो लोग प्रभुके कृपा-वैभवको देखकर मुग्ध होने लगते हैं, उन्हें वह प्रभुके सम्मुख कर देती है और 'अनुरोधनी' बन जाती है।

११. यह मोहनी किस-किस विलक्षण और विचक्षण रीतिसे विभिन्नलक्षण जीवोंको संसारकी विविध प्रवृत्तियोंमें लगाकर प्रवर्तनी का काम करती है और भिन्न-भिन्न योनियोंमें डालकर परिवर्तनीका रूप धारण करती है। किसी-किसीको पूर्वावस्थामें लौटाकर अपनेको परावर्तनी बना लेती है। यह पृथक्-पृथक् निरूपण करना शक्य नहीं है। संसारमें जितनी क्रिया है, भाव है, संज्ञा है—सभी इस 'मोहनीके' नवनवायमान अभिव्यञ्जनीके ही रूपान्तरण हैं। जो इनके बाह्य स्वांगके रंगमें ही अपने अन्तरङ्गको रँग लेता है वह चक्रवातमें तृणके समान उड़ता-पड़ता रहता है और जो इसके अन्तरङ्गमें विराजमान करुणा-वरुणालय प्रभुके तरङ्गायित रूपको देख लेता है वह क्षण-क्षण उनका दर्शन करके आनन्दमग्न रहता है।

१२. प्रभुकी कृपाका एक रूप है—आकर्षणी। परन्तु वह प्रारम्भमें विकर्षणी का रूप ग्रहण करके आता है। विकर्षणी भी अपना सहज सौरभ तब प्रकट करती है जब वह तापनी होकर हृदयमें प्रपञ्च-संवेदनके प्रति 'तापनी बन चुकती है। कहनेका अभिप्राय यह है कि जब ईश्वर-वियोगिनी वृत्ति प्रपञ्च-संयोगमें ताप और ज्वालाका अनुभव करने लगती है—संसारकी सुरभि वस्तुमें भी दुरभिसन्धिकी शंका होती है। 'रसमें भी' विष घोला हुआ जान पड़ता है। सरूपतामें छिपी कुरूपता दीखने लगती है। सुकुमार मारका दूत लगने लगता है। मधुर स्वर सुख-विधुरताके कर्णभेदी ध्वनिसदृश प्रतीत होने लगते हैं और प्रिय-सम्बन्ध बन्धन लगने लगते हैं। तब यह तापनी संसारकी ओरसे विकर्षण करके प्रभुकी आकर्षण धारामें डाल देती है। अब ऐसा लगने लगता है कि कोई मेरा प्रेमी है। वह मुझे अपनी ओर खींच रहा है बलात्। मेरा वास्तविक प्रियतम वही है। मेरा निवास-स्थान उसीके पास है।

इतने दिनों तक मैंने घोर अन्धकारमें, पराये घरमें जीवन व्यतीत किया है। मैंने भ्रमवश सुखको दुःख माना है। मैं जहाँ हूँ, वहाँ शान्ति नहीं है, प्रकाश नहीं है, सुख नहीं है। मुझे अपने प्रियतमके उस रसमय, मधुमय प्रदेशमें चलना चाहिए, जहाँ बस वही-वह विहार करता है।

१३. जब इस प्रकारके संकल्प उठने लगते हैं तब इनके प्रवाहमें वासनाके मल धुलने लगते हैं। कृपा क्षालनी होकर आ जाती है और धीरे-धीरे अन्तर्देश पवित्र होने लगता है। वह कृपा द्रावणी और स्नेहनी भी बनती है। प्रभुके लिए तीव्र व्याकुलताकी ज्वालासे वह अन्तःकरणको द्रुत करती है और उसमें परमानन्दमय प्रभुके लिए एक प्रकारकी स्निग्धता उत्पन्न करती है। इस क्षालन, द्रावण और स्नेहनकी प्रक्रियाके बिना हृदयमें रासायनिक प्रभाव उत्पन्न नहीं होता और उसमें भगवदाकार होनेकी योग्यता नहीं होती। वासनाएँ दूसरा आकार बना देती हैं। ममता कठोर बनाती है और अन्योन्मुखता रूक्ष करती है। इन तीनों दोषोंकी निवृत्तिके लिए कृपा उक्त तीनों रूप धारण करती है और क्षालित, द्रावित एवं स्निग्ध हृदयमें भगवान्‌के प्रासादिक रूपका अनुभव कराती है। यहीं उसका एक नाम प्रसादनी भी हो जाता है।

१४. इस अवस्थामें ईश्वरके जिस स्वरूपका अनुभव होता है वह अत्यन्त विविक्त एवं स्पष्ट नहीं होता; क्योंकि वासनाओंके शान्त हो जाने पर भी अविद्याके संस्कार बने रहते हैं परन्तु हृदय शुद्ध होनेके कारण ईश्वरको सम्पूर्ण रूपसे अपना विषय बनानेके लिए एक दिव्य वृत्तिका उदय होता है। उसमें व्याकुलता नहीं है। दाह और ताप भी नहीं है, परन्तु एक सम्पूर्ण अनुभूतिके लिए आन्तरिक प्रयत्न होता रहता है। इस प्रयत्नको अन्वेषणी, विवेचनी अथवा जिज्ञासनी कृपाका नाम दिया जा सकता है। इसमें अपने अन्वेष्य अथवा अनुसन्धेय वस्तुके अतिरिक्त किसी और विषयकी ओर चिन्तनकी धारा नहीं गिरती। परिणामतः प्रकाशनी कृपा अभिव्यक्त हो जाती है। उस समय अपने अन्तःकरणके ही सूक्ष्मतम आधार प्रदेशमें भगवत्स्वरूपकी स्फूर्ति होने लगती है। वह स्वरूप न घटादिके समान प्रत्यक्ष होता है और न स्वर्गादिके समान परोक्ष। वस्तुतः वह अवेद्य अपरोक्ष ही होता है, परन्तु अन्वेषणीसे पृथक्, विवे-

चनीसे स्वरूप और जिज्ञासनीसे प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मके रूपमें अनुभव होता है। इस अनुभूतिको मेलनी की संज्ञा दी जा सकती है; क्योंकि जिसको अनुसन्धान कर रहे थे वह अब मिल गया है। यह मेलनी ऐसी है कि फिर वियोजनी अथवा संयोजनी वृत्तिका संसर्ग नहीं होता; क्योंकि वियोग-संयोगकी कल्पनाके लिए कोई अवकाश नहीं रहता। कर्मके नष्ट होनेपर फलका नाश अथवा ह्रास होता है किन्तु प्रमाण वृत्तिके रहने, न रहनेका प्रमेय वस्तुपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वस्तुके लिए स्मरणी-विस्मरणी भी अकिंचित्कर है। भक्तिमार्गसे भी मेलनी केवल नित्य सम्बन्धकी अभिव्यंजनी होती है, उत्पादनी नहीं।

१५. इसमें सन्देह नहीं कि यह सर्वविध बन्धनसे मुक्त कर देती है, चाहे इसका रूप कुछ भी क्यों न हो? इसलिए मेलनीका ही एक नाम मोचनी हो जाता है। यह अनात्मासे, अनिष्टसे, द्वैतभ्रमसे सर्वथा मुक्त करनेमें समर्थ है। इसके बाद तीन रूप प्रकट होते हैं—शमनीमें सम्पूर्ण वृत्तियोंकी उपशान्ति होकर प्रपञ्चका अभाव हो जाता है। स्वच्छन्दीमें वृत्तियोंकी प्रतीति-मात्र उपस्थिति-अनुपस्थितिका कोई महत्त्व नहीं रहता और ह्लादनी रसिक, रस्य और रसनको परमानन्द, एकरस कर देती है। तब भूमि, वृक्ष, लता, पशु, पक्षी, पर्वत, नदी, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, समीर, आकाश, मन, भोक्ता, भोग्य, कर्ता, कर्म—कहाँ तक गिनायें—सब कुछ भगवन्मय हो जाता है। धाम, नाम, रूप, लीला, गुण, स्वभाव, दुर्जन, सुज्जन—सब कुछ रस-स्वरूप परमात्माकी निर्माय लीलामात्र होते हैं। यह ह्लादनी कभी प्रसादनी, कभी अभिसारणी और कभी माननी होकर आती है। सुखकी व्यञ्जनाके लिए मनाती है। मिलनेके लिए नदीकी तरह बहती है। आनन्दधारामें हिम-शिलाके समान मान करके बैठ जाती है। यह चाहे जो रूप धारण करे, रहती है—भावनी, रञ्जनी, तर्पणी और नन्दनी। चाहे आँख-भौं चढ़ी हो, चाहे प्रसन्न; वह प्रियतमकी प्रसन्नताके लिए अपनी प्रियताकी अभिव्यक्ति ही होती है। क्योंकि अब आनन्द-रसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। इसीसे यह कभी मिल-कर मोदनी दिखाती है तो कभी मादनी दीखती है। संयोग और वियोग घुल-मिलकर एक हो चुके होते हैं और उनकी आकृति-विशेष

होनेपर भी 'तत्त्व विशेष नहीं होता। वह रस-विशेषका उल्लास है, प्रेमका प्रकाश है, प्रीति-महार्णवके तरङ्ग हैं, कभी दो हैं, कभी 'एक हैं। वहाँ 'कभी' है परन्तु काल नहीं। 'वहाँ' है परन्तु देश नहीं। दो हैं परन्तु द्वित्व नहीं। यह स्वरूपणी कृपा अभेद स्वरूपा ही है।

१६. इस कृपाका स्वरूप देश-काल-वस्तु-व्यक्तिसे परे भी है और उनमें अनुस्यूत भी है। वस्तुतः कृपाके अतिरिक्त और कोई महत्ता, सत्ता नहीं है। वह अरूपिणी रहकर सर्वरूपमें प्रकाशित होती है। कृपा और कृपालु दो तत्त्व नहीं हैं। जब, जहाँ, जो कृपालुका स्वरूप है तब वहाँ, वही कृपाका स्वरूप है। आत्मा-परमात्माका भेद और अभेद—दोनों ही कृपा हैं। जब सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च अन्धतमसाच्छन्न होता है, तब क्या हमारे नेत्रोंके भीतरसे सूर्य-ज्योति बेरोक-टोक झाँकती हुई नहीं ज्ञात होती? अन्धकारके पीछे क्या सूर्यमण्डल जगमगाता हुआ नहीं होता? अन्धकार, दुःख, मृत्युके आगे-पीछे सर्वत्र वही मंगलमय ज्योति झिलमिला रही है। इस अरूपिणी कृपाका केवल पहचानना पड़ता है, पाना नहीं। तत्त्वज्ञानका अर्थ भी इसे पहचानना ही है। इसको चाहे ब्रह्म कह लो या 'आत्मा? सगुण-निर्गुणका भेद व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं।

१७. रूपिणी कृपा तब समझमें आती है जब वह हमारे इष्टके स्मरणमें हेतु बनती है, जैसे सत्संग मिले, भगवद्धाम मिले, कुछ काल तक भगवान्की आराधना मिले। भक्तकी दृष्टिसे वह रूपिणी कृपा होगी; क्योंकि वह साधनका रूप धारण करके आयी है। यह कृपा अपने-अपने पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी प्राप्तिमें अनुकूलता उत्पन्न करनेपर पहचानी जाती है। जिज्ञासुको सन्त मिले, अर्थीको सेठ मिले, कामीको कामिनी मिले और धर्मात्माको सत्पात्र, तो उसे वह भगवान्की रूपिणी-कृपा समझेगा। परन्तु यह दृष्टि पुरु-षार्थकी उपाधिसे है। इसमें कृपाकी सच्ची पहचान नहीं है। सच्ची कृपामें अपनी इच्छा या आव-श्यकतापर दृष्टि नहीं जाती। उसमें तो प्रत्येक परिस्थितिमें ही उसका समीक्षण होता है, प्रतीक्षण नहीं, प्रार्थना भी नहीं। जो है उसके लिए क्या प्रतीक्षा और क्या प्रार्थना? उसकी अनेकरूपता वैसे ही है, जैसी रास-लीलाके समय श्रीकृष्णकी अनेकरूपता या ब्रह्माके प्रति अनन्त रूपका दर्शन।

कृपाकी पहचान हो जानेपर उसमें स्मरण, प्रतिष्ठा और निष्ठाकी भी आवश्यकता नहीं रहती। जो कुछ है, नहीं है, भासता है, नहीं भासता, प्रिय है, अप्रिय है, भेद है, अभेद है, कृपाका ही विलास है।

●

कहाँ रहें ?

सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध करके उपराममें, विश्राममें कूटस्थ-तटस्थ, असंग-साक्षी होकर रहना श्रेष्ठ है कि भगवान्‌में तन्मय होकर? इस प्रश्नको आप दूसरे रूपमें समझें। सब दरवाजे बन्द करके काम धन्धेका विचार छोड़ करके अपने कमरेमें एकान्त शैय्या-पर सो जाना श्रेष्ठ है अथवा किसी राजमहलमें आदर, प्रेम-पूर्वक, सुख सुविधासे निवास करना? श्रेष्ठताका निवास अपनी रुचिमें है।

अपने ही घरमें अपनेको कैद कर लेना, हाथ-पाँव बाँधकर पड़े रहना या मूर्च्छामें चले जाना किसी-किसीको पसन्द हो सकता है और किसी-किसीको पराये महलमें रहकर आनन्द लेनेमें भी विशेष रुचि हो सकती है, परन्तु विचार करके देखें तो पहली स्थितिमें संकीर्णता है और दूसरी स्थितिमें पराधीनता। इन दोनोंमें ही दुःख है और दोनोंमें ही अपने परमार्थ-स्वरूपका अर्थात् आत्मा-परमात्माकी एकताका अज्ञान है। यदि यह अज्ञान दूर हो जाय तो चाहे यहाँ रहो, चाहे वहाँ। केवल इतना ही नहीं—कहीं भी रहो। अज्ञान मिट जानेपर यह स्वतन्त्रता हो जाती है कि समाधिमें रहो, चाहे तदाकार-वृत्तिमें अथवा व्यवहारमें। सब अपना स्वरूप हो जाता है। एक दृष्टिसे सब रहना मिथ्या है। दूसरी दृष्टिसे सब रहना परमार्थ ही है।

●

धन्य हो तुम और तुम्हारे खिलौने

दो विद्वान् परस्पर वादविवादमें संलग्न थे। एकका कहना था कि 'ईश्वर है' और दूसरेका कहना था कि 'नहीं है।' दोनों खाते-पीते विश्राम करते और फिर शास्त्रार्थमें जुट जाते। प्रत्येकके पास मानो युक्तियोंके अक्षय स्रोत थे, दिन-प्रतदिन नवीन प्रतिभाका उन्मेष होता था। पता नहीं, कबसे यह स्रोत प्रतिस्रोत, क्रियाकी धारा बह रही थी।

एक महात्मा चुपचाप दोनोंके वाद-प्रतिवाद सुन-सुनकर विस्मयविमुग्ध होते रहते थे। एक दिन उनके मनमें प्रश्न उठा—इन दोनोंकी युक्तियोंका यह अक्षय स्रोत किस हिमालयसे प्रवाहित होता है? महात्माकी अन्तर्दृष्टि खुल गयी। उन्होंने देखा कि एक ही ईश्वर दोनोंके हृदयमें बैठकर नित्य-नूतन प्रतिभाका प्रकाश फैला रहा है। उसने कहा—'हे प्रभो! यह तुम्हीं हो जो 'ईश्वर है' के पक्षमें युक्ति देकर मुसकराते हो और 'ईश्वर नहीं है' के पक्षमें भी युक्ति देकर मुसकुरा रहे हैं। धन्य हो तुम! और धन्य हैं तुम्हारे ये दोनों खिलौने!!'

ईश्वरने कहा—'महात्मा जी! मैं दोनोंमें बैठकर केवल दोनोंका प्रेरक ही नहीं हूँ। आपका भी 'मैं' ही हूँ, जिस रूपसे मैं दोनोंका हो रहा हूँ।

●

ब्रह्मसूत्रका तात्पर्य कैसे समझें ?

(स्वामी श्री चिद्घनानन्दपुरी, श्रीरामकृष्ण सेवाश्रम)

★

मीमांसा-शात्रमें प्रसिद्ध है कि उपक्रमोपसंहार आदि पर विचार करके शास्त्रके तात्पर्यका निर्णय करना चाहिए। यहाँ केवल उपक्रम और उपसंहारके अनुरोधसे ही हम एक विचार प्रस्तुत करते हैं।

पहले ग्रन्थके आदिम और अन्तिम सूत्र पर विचार कीजिये। पहला सूत्र है—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'। अन्तिम सूत्र है—'अनावृत्तिशब्दात्।' दोनोंका अर्थ यदि इकट्ठा कर दें तो यह अभिप्राय निकलता है—अधिकारि-गुणका सम्पादन करके कर्मफलकी अनित्यता जानकर ब्रह्म-विषयक वेदान्त-विचार करना चाहिए। उसका फल है, संसारमें प्रतीयमान जन्म-मरणकी निवृत्ति। इसमें प्रमाण वेद ही हैं। यह दोनों सूत्रोंका अक्षरार्थ है परन्तु इसी पर यदि गम्भीर विचार करें तो शास्त्रप्रतिपादित अनेक पदार्थोंका स्पष्ट साक्षात्कार हो जाता है।

१. ब्रह्मज्ञानसे ही अनावृत्तिरूप मुक्तिकी प्राप्ति होती है; क्योंकि पहले सूत्रमें अभीष्ट ब्रह्मज्ञानकी प्रतिज्ञा की गयी है और अन्तिम सूत्रमें उसीका फल अनावृत्ति कहा गया है। 'जिज्ञासा' पदका अर्थ है 'जिसके लिए इच्छा है वह ज्ञान ही है।' 'ब्रह्म' पदका प्रयोग करनेसे यह स्पष्ट हुआ कि वह ज्ञान ब्रह्म-विषयक है अन्य-विषयक नहीं, अर्थात् ब्रह्मके अतिरिक्त और किसी ज्ञानसे मुक्ति नहीं होती। अब यह बात सूत्रके अक्षरोंसे ही प्राप्त हो गयी कि इस शास्त्रमें 'अनावृत्तिरूप' मुक्तिके लिए ज्ञानसे अतिरिक्त और किसी साधनका उपदेश नहीं है। अतः मुक्तिका साधन ज्ञान ही है, न उपासना, न कर्म। दोनोंका या दोनोंमें-से किसी एकका ज्ञानके साथ मिश्रण भी मुक्तिका द्वार-साधन या स्वरूप-साधन नहीं है। अनावृत्तिरूप मोक्ष ब्रह्मज्ञानका ही फल है, अविद्या-निवृत्तिके द्वारा। अतः कर्म, उपासना आदि ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषय नहीं हैं। इस प्रकार ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए इच्छा और उस इच्छासे होनेवाला विचार अपेक्षित है। विचार ही

ज्ञानका अंग अथवा साधन है। इच्छा और विचार—इन दोनोंके मध्यमें चित्त-चाञ्चल्यादि प्रतिबन्ध हैं। उनकी निवृत्तिके लिए और इच्छाकी दृढ़ताके लिए कर्म-उपासना एवं प्रायश्चित आदिका उपयोग है। इसलिए वे भी परम्परया ब्रह्मज्ञानके साधन हैं। उनकी साक्षात् साधनता नहीं है। अतः ज्ञान, कर्म, उपासनाका स्वरूप समुच्चय अथवा सम समुच्चय नहीं है। किन्तु क्रम समुच्चय ही है। यह सब दोनों सूत्रोंके अक्षरोंसे ही मिल जाता है। तत्त्वान्वेषीको इस पर ध्यान देना चाहिए।

२. ज्ञानका साक्षात् फल है—अज्ञानकी निवृत्ति। जिस विषयका ज्ञान होता है यदि वह उस विषयके ज्ञानको निवृत्त न कर सके तो वह ज्ञान ही क्या है? अज्ञान-निवृत्ति और ज्ञानोपपत्ति—इन दोनोंमें कोई व्यवधान नहीं है। फिर भी, पहले अज्ञान-निवृत्ति होती है, फिर ज्ञानका समुदय होता है। अज्ञान-निवृत्तिके लिए अनुष्ठानका पहले होना आवश्यक है। दर्पणका मैल दूर कर देनेपर ही प्रतिबिम्ब-दर्शन होता है। वस्तुतः ज्ञानका साक्षात् फल भी अज्ञानकी निवृत्ति ही है। ज्ञानके अतिरिक्त किसका सामर्थ्य है जो अज्ञानको निवृत्त कर सके? इस प्रकार जिस वस्तुका ज्ञान होता है उस विषयके अज्ञानकी निवृत्ति ही ज्ञानका साक्षात् फल है। ध्यान दीजिये, यदि ज्ञानका फल अनावृत्ति रूप मोक्ष है तो अज्ञान-निवृत्ति ही मोक्ष है। यह सिद्धान्त प्राप्त हो गया। प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्म स्वयंप्रकाश है। अतः ब्रह्म-ज्ञानके अनन्तर कोई कर्त्तव्य नहीं रहता। लोक-व्यवहारमें घट-पट आदिका ज्ञान होनेपर उनके सम्बन्धमें कर्तव्य-अकर्तव्य आदिका चिन्तन करना पड़ता है। वैदिक रीतिसे देवता, ऋषि आदिका ज्ञान होने पर तद्विषयक अनुष्ठान एवं उपासना कर्तव्य होती है। परन्तु ब्रह्मज्ञानके अनन्तर कुछ भी कर्तव्य अथवा प्राप्तव्य नहीं रह जाता, क्योंकि ब्रह्मज्ञानके अनन्तर अज्ञान-निवृत्ति रूप मोक्ष साक्षात् स्वरूपभूत फल है। अज्ञान-निवृत्तिसे उपलक्षित आत्मा ही मुक्ति है। मोक्षके लिए ही सब साधन किये जाते हैं। उसके प्राप्त हो जाने पर कर्मोपासना आदिकी क्या आवश्यकता है? अतः ब्रह्म-जिज्ञासाके विषय ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर किंचित् भी कर्तव्य रह जाना सम्भव नहीं है। आदिम और अन्तिम सूत्र पर विचार करनेसे यही तात्पर्य स्पष्ट होता है कि जो लोग ब्रह्म-ज्ञानके अनन्तर भी कर्म-उपासना आदिका विधान स्वीकार करते हैं, वह सूत्र शरीरके अनुरूप नहीं हैं। अतः यही ग्रन्थका प्रतिपाद्य है कि ज्ञानसे ही मुक्ति होती है।

३. अब प्रश्न यह है कि ब्रह्म-ज्ञानसे जीवकी ही मुक्ति होती है या किसी और की ? मुक्ति जीवकी ही होती है, किसी औरकी नहीं। ऐसी अवस्थामें ब्रह्म और जीव दो नहीं, एक ही हैं—यह सिद्धान्त अपने आप ही सिद्ध हो जाता है। 'जीवसे ब्रह्म भिन्न है'—इस ब्रह्मज्ञानसे जीवको अनावृत्ति रूप मुक्ति कैसे मिल जायगी ? क्योंकि एक तो ब्रह्म संसारी नहीं है, साथ ही वह अनावृत्ति-स्वरूप है। जीव-ब्रह्मके अभेद ज्ञानके बिना अन्य ब्रह्मके ज्ञानसे जीवकी अनावृत्ति असम्भव है। ब्रह्म मुक्त रहे—इससे जीवका क्या बनता-बिगड़ता है। जबतक वह अपना स्वरूप नहीं होगा, तब तक उसकी मुक्ति अपनी मुक्ति कैसे हो ? 'यदि मैं मुक्त हूँ'—इस ज्ञानसे ही मुक्तिकी सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं, तो 'ब्रह्म मुक्त है'—इस ज्ञानसे मेरी मुक्ति कैसे होगी ? मुक्ति हो और ज्ञान न हो तो वह किस काम की ? वस्तुतः अभेद-ज्ञान ही मुक्ति है। अतः 'ब्रह्म-ज्ञानसे जीवकी मुक्ति होती है'—यह कहनेका अभि-प्राय केवल यही हो सकता है कि जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं, दोनों शब्दोंका अर्थ एक है। उपक्रम एवं उपसंहारके सूत्रोंको मिलाने पर यही अभिप्राय निकलता है। आत्माकी ब्रह्मता स्वतःसिद्ध है, ब्रह्म अद्वय है, इसलिए आत्मा भी अद्वय है। अविद्या प्रतिबन्धक है। ब्रह्मात्मैक्य-बोधसे उसकी निवृत्ति होती है।

४. अनावृत्ति शब्दका अर्थ है—पुनरागमन न होना। गमनागमन इसी संसारमें अर्थात् दृश्य-प्रपंचमें होता है। अब विचार यह करना है कि संसारमें गमनागमनसे मुक्त हो जाना ब्रह्मज्ञानका फल है और वह फल साक्षात् अज्ञानकी निवृत्ति है; तो स्पष्ट हो गया कि अज्ञान निवृत्ति संसाराभाव रूप है। अज्ञानकी निवृत्ति, संसारकी निवृत्ति, गमनागमनकी निवृत्ति और मुक्ति—यह सब एक ही पदार्थके नामान्तर हैं। इससे सिद्ध हो गया कि अज्ञान ही संसार है। संसार संसार-ज्ञानके अधीन है। चाहे संसार ज्ञात हो या अज्ञात; जिसकी सत्ता ज्ञात है वह जैसे ज्ञानाधीन होता है वैसे ही जिसकी सत्ता अज्ञात है वह भी ज्ञानाधीन ही होता है। जैसे कोई कहे कि 'पाताल है या नहीं ?'—यह मैं नहीं जानता। यह जो 'न जानना' रूप अज्ञान है और उसका विषय है—दोनों ही ज्ञानके अधीन हैं। कहिए, है न यह बात ! ज्ञानके बिना किसी भी वस्तुको ज्ञात या अज्ञात रूपसे कैसे भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः संसार, उसका ज्ञान और उसका अज्ञान भी—सब कुछ ज्ञान-सत्ताके अधीन है। अब यह निष्कर्ष निकला कि जिसकी सत्ता किसीके अधीन होती है उसीकी

निवृत्ति होती है। स्वतःसिद्ध स्वाधीन सत्ताकी निवृत्ति नहीं होती। जो सत्ता जिस सत्ताके अधीन होती है वह उसके आश्रित होती है। अज्ञान ज्ञानके ही आश्रित है। 'मैं अज्ञ हूँ'—इसका प्रकाशक भी ज्ञान ही है। वस्तुतः अज्ञानके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी ज्ञानके आश्रित नहीं हो सकता। अतः अज्ञान ही संसार है। इस अज्ञानकी निवृत्ति ही 'अनावृत्ति' है। वह संसाराभाव रूप है इसलिए ब्रह्मज्ञानका फल है—संसार और उसके दर्शनका अभाव। ब्रह्मज्ञान होने पर न यह संसार टिकेगा, न एतत्-सम्बन्धी ज्ञान। केवल ब्रह्म ही रहेगा। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मसे भिन्न अथवा भिन्नाभिन्नरूपमें प्रकृति एवं परमाणुओंको स्वीकार करके तथा ब्रह्मपरिणामवादको स्वीकार करके जिन्होंने सृष्टिकी संगति लगायी है, उनका मत वेदान्त-सम्मत नहीं है; क्योंकि वेदान्त ज्ञानके द्वारा अज्ञानको निवृत्त करके संसाराभाव रूप मुक्तिको स्वीकार करता है और वे मतवादी संसारके मूल रूपमें अज्ञानको स्वीकार नहीं करते, अतएव उनके पक्षमें ज्ञानसे मुक्ति भी संगत नहीं होगी। यही कारण है कि ग्रन्थ-शरीरमें भिन्न-भिन्न मतवादोंका खण्डन किया हुआ है।

५. संसार यदि वस्तुतः सत्य होता तो मुक्त दशामें दर्शन न होनेपर भी उसका विलोप न होता अर्थात् वह बना ही रहता; क्योंकि दर्शन न होनेपर भी दृश्य तो रहता ही है। आप कल्पना करें, कि घोर अन्धकारमें जब घड़ेका दर्शन नहीं होता तब भी तो घड़ा रहता ही है। दृश्यकी सत्ता स्वीकार कर लेने पर उसका पुनर्दर्शन अनिवार्य है। ऐसी अवस्थामें वेदान्तोक्त गमनागमनकी निवृत्ति सम्पूर्ण रूपसे नहीं हो सकती। यदि ऐसी कल्पना की जाय कि वासनाका समुच्छेद हो जानेपर संसार रहने पर भी 'पुनर्जन्म' नहीं होता तो प्रश्न यह है कि वैसी दशामें संसार सुखकी वासनाका उदय पुनः क्यों नहीं होगा? भोगकी अधिकतासे रोग होने पर औषध सेवनसे रोग निवृत्ति होनेपर क्या पुनः भोगकी वासना उत्पन्न नहीं होती? सच तो यह है कि संसारको 'सत्य' स्वीकार करनेपर सुखभोगकी वासना और पुनर्जन्म—दोनोंकी निवृत्ति असम्भव है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि पुनरावृत्ति-निवृत्तिके अनुरोधसे यह सिद्धान्त सिद्ध होता है कि दर्शनाभावके साथ ही सर्वदाके लिए दृश्याभाव हो जाता है। फल यह निकला कि दृश्याभाव और दर्शनाभाव सहभावी हैं। दर्शनातिरिक्त दृश्य नहीं है अर्थात् 'दृश्य ही मिथ्या। यदि दृश्य मिथ्या न होता तो दर्शनकी निवृत्ति होनेपर दृश्य निवृत्ति नहीं होती और न तो वासनाका समुच्छेद ही सम्भव होता।

जैसे किसीको सीपमें चाँदीका भ्रम हुआ। सीपके ज्ञानसे चाँदीका दर्शन मिट जाय तो यह भी सिद्ध हो गया कि रजत-प्रतीति-कालमें भी वहाँ रजत-सत्ता नहीं थी। यही तो रजतका मिथ्यात्व है। 'मिथ्यात्व अर्थात् अधिष्ठानके अज्ञानसे कल्पितत्वेन असत्‌को सत्यत्वेन दर्शनका विषय करना मिथ्यात्व अथवा कल्पना है। जहाँ जो वस्तु नहीं है वहाँ उसके अस्तित्वकी कल्पना 'मिथ्यात्व' है। इस प्रकार 'ब्रह्मज्ञानसे अनावृत्ति होती है'—यह कहकर उपक्रम एवं उपसंहारके सूत्रोंने यह भी प्रतिपादित कर दिया है कि दृश्य मिथ्या है। इस प्रकार जगत् सत्यत्ववादियोंके मतका खण्डन होता है। 'ब्रह्मज्ञानसे मुक्ति होती है'—इस कथनका एक गूढ़ अभिप्राय यह भी समझना चाहिए।

६. अब यह विचार करना चाहिए कि यह अज्ञान किसके विषयमें है? केवल ब्रह्मके विषयमें है अथवा केवल आत्माके विषय में या दोनोंकी एकताके विषयमें? यही युक्तियुक्त सुनिश्चित एवं प्रसंग-संगत है कि वह अज्ञान ब्रह्मात्मैक्यके विषयमें है। यदि ब्रह्म और आत्मा अभिन्न न हों तो गमनागमन-रूप संसार और तद्-विषयक भ्रान्तिकी निवृत्ति नहीं हो सकती। द्रष्टा, दर्शन एवं दृश्यको त्रिपुटीमें यदि एक भी रह जायगा तो अवश्य ही तीनोंकी सत्ता सिद्ध हो जायगी। जब द्रष्टाके स्वरूपमें कल्पित जीवभावकी निवृत्ति हो जाती है और द्रष्टाके ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म होनेका अधिगम हो जाता है तब त्रिपुटीकी सत्ता निश्चित-रूपसे ही बाधित हो जाती है। ब्रह्मज्ञानसे ही अनावृत्ति-लक्षणा संसार-निवृत्ति होती है—इस कथनका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मात्मैक्य विषयक अज्ञान ही संसार है और उसकी निवृत्ति ही अनावृत्ति-लक्षण मोक्ष है। इससे यही सिद्ध हुआ कि द्रष्टा ब्रह्मका अधिष्ठान-ब्रह्मके साथ अभेद-ज्ञानके अतिरिक्त मोक्षके लिए और किसी साधनकी अपेक्षा नहीं है। जबतक इस दृढ़ अपरोक्ष साक्षात्कारके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति न हो जाय, तब तक इसी ज्ञान-धाराके संरक्षण और संवर्द्धनके लिए इसकी आवृत्ति करनी चाहिए। प्रबल प्रतिबन्धक होने पर उपासना आदिका अनुष्ठान भी किया जा सकता है अन्यथा उनकी कोई आवश्यकता नहीं है। दोनों सूत्रोंको एक साथ मिलाकर अध्ययन करने पर स्पष्ट रूपसे यही तात्पर्य निकलता है। ब्रह्मज्ञानकी इच्छा साधन है। साक्षात् ज्ञान अविद्या-निवर्तक है। अविद्या-निवृत्तिसे उपलक्षित आत्मा मोक्ष है और प्रमाण वेद है।

७. जब यह सिद्ध हो जाता है कि अज्ञान और संसरण पर्यायवाची शब्द हैं अथवा अज्ञानसे ही संसारकी उत्पत्ति होती है तो यह भी अनायास

ही ज्ञात हो जाता है कि जैसे अज्ञान अनादि और सान्त है, वैसे संसार भी अनादि और सान्त है। जैसे अज्ञान ज्ञान-नाश्य है, वैसे गमनागमन-रूप संसार भी ज्ञान-नाश्य है। यदि संसार सत्य होता तो वह ज्ञान-नाश्य न होता। यह एक सार्वलौकिक नियम है कि ज्ञान-निवर्त्य वस्तु मिथ्या ही होती है। एक दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य होती है कि जिनके मतमें अज्ञान और संसार—दो अलग-अलग पदार्थ हैं, उनके मतमें संसार अनादि और अनन्त ही होगा, अनादि और सान्त नहीं। ऐसी अवस्थामें अनावृत्ति-लक्षण मोक्षकी कथा ही वृथा हो जायगी। द्वैत-वस्तुके रहते संसर्गकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए भेदवादियोंका सिद्धान्त उपक्रम-उपसंहारके अनुरूप नहीं है।

८. अब विचारणीय यह है कि इस अज्ञानका स्वरूप क्या है? क्या ज्ञानाभाव ही इसका स्वरूप है? अज्ञानको ज्ञानाभावरूप मानना उचित नहीं है; क्योंकि यदि यह अज्ञान ज्ञानाभावरूप होता तो ब्रह्मात्मैक्य बोधसे इसकी निवृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि अभावका नाश नहीं होता, परन्तु अज्ञानका नाश प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। किसी भी ज्ञानके द्वारा अभावका नाश सम्भव नहीं है; क्योंकि अत्यन्ताभाव नित्य है।

यदि अज्ञानको प्रागभावरूप माने तो भी बात ठीक नहीं बनती है। यह सत्य है कि प्रागभावका नाश होता है और प्रध्वंसाभावकी उत्पत्ति भी होती है। परन्तु, प्रागभाव प्रति-योगी साक्षेप होता है। अर्थात् अज्ञानको प्रागभावरूप मानने पर यह समाधान करना पड़ेगा कि किसका प्रागभाव? ज्ञानका या अज्ञानका? 'अज्ञानका प्रागभाव अज्ञान है—यह कहना उपहासास्पद है। ज्ञानका प्रागभाव अज्ञान है' तो ज्ञात ज्ञानका प्रागभाव है या अज्ञात ज्ञानका? दोनों ही दशामें अज्ञानकी प्रागभाव-रूपता सिद्ध नहीं होती। किसी एक आधारमें, किसी एक प्रकाशकके द्वारा प्रकाशित ही भावाभावकी सत्ता होती है। अज्ञानको प्रागभाव कहना न्यायका अन्याय है। नव्य नैयायिकोंने प्रागभावका भी खण्डन किया है। अभिप्राय यह है कि अज्ञान ज्ञानाभाव रूप नहीं है, भावरूप होनेसे ज्ञान-निवर्त्य है। 'जिज्ञासा' और 'अना-वृत्ति'—इन दोनों सूत्रोंसे इस प्रक्रियाकी सिद्धि भी हो जाती है।

९. यह अनादि, अनिर्वचनीय भावरूप अतएव ज्ञान-निवर्त्य अज्ञान अपने आश्रयको ही आवृत करता है। अज्ञानका स्वभाव ही यह है कि वह जिसमें रहता है, उसीको ढक देता है। ऐसी स्थितिमें यह भी निश्चत है कि अज्ञानका आश्रय ज्ञान ही होगा,

जड़ नहीं। अज्ञान अपने आश्रय प्रकाशसे ही तो प्रकाशित होगा। 'मैं अज्ञानी हूँ'—यह चेतनके अतिरिक्त कोई कैसे जान सकेगा? इसलिए शुद्ध ब्रह्म या जड़—दोनोंमें कोई अज्ञानका आश्रय सिद्ध नहीं होता। अत: अज्ञानावृत जीवरूप ब्रह्म ही इसका आश्रय है। अज्ञान अनादि, जीव अनादि। इन दोनोंका आश्रयाश्रित भाव भी अज्ञान दशामें ही प्रतीत होता है। कहनेका अभिप्राय यह है कि अज्ञानका आश्रय और विषय—दोनों ही आत्मा है। वह अपनेको ही है और अपने ही विषयमें है। जबतक ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे अज्ञान-निवृत्ति समकाल जीवभावकी निवृत्ति नहीं हो जाती, तभी तक अज्ञानका होना उसके विलास तथा उसकी निवृत्ति आदिका पचड़ा है। उसके निवृत्त हो जानेपर नहीं। ज्ञान बाध्य होनेके कारण अज्ञानका होना भी प्रातिभासिक हो है। सृष्टि-दृष्टिके अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस दृष्टि-सृष्टि-वादकी प्रक्रिया भी इसीसे सिद्ध हो जाती है।

१०. अच्छा, अब इसका निष्कर्ष देखिये। अज्ञान है और अज्ञानसे जन्य बुद्धि है। यह बुद्धि ही जब ब्रह्माकार हो जाती है तब अज्ञानका नाश हो जाता है। जैसे शरीरमें कितने ही क्रिया-कलाप होते रहते हैं, परन्तु जब कर्तृत्वपूर्वक करणारूढ़ होकर कर्म किया जाता है तब धर्माधर्मकी उत्पत्ति होती है और वह कर्ताको संस्कृत करती है। इसी प्रकार वृत्तियाँ तो बहुत-सी बनती—बिगड़ती रहती हैं परन्तु जब महावाक्यके द्वारा वृत्ति ब्रह्माकाराकारित होती है तब उस वृत्तिपर आरूढ़ चेतन अज्ञानको नष्ट कर देता है। वृत्ति-कार्य होनेपर भी अपने कारणभूत अज्ञानका नाश करनेमें इसीलिए समर्थ होती है कि उसमें आश्रय-विषयकी एकता होनेसे अज्ञानकी स्थितिके लिए कोई आश्रय ही नहीं रह जाता। वृत्त्यारूढ़ चेतन ही अज्ञानका नाश करता है, शुद्ध चेतन नहीं। इसीसे वेदान्तमें कहा जाता है कि अज्ञान ज्ञान-वृत्तिसे नष्ट होता है, शुद्ध ज्ञान-स्वरूप उसका नाश नहीं करता। शुद्ध ज्ञानस्वरूप परमार्थ ब्रह्म अज्ञानका विरोधी नहीं है; क्योंकि उसमें अज्ञान ही नहीं है। यह बात भी इसीसे सिद्ध हो जाती है कि 'ब्रह्ममें केवल वृत्ति-व्याप्ति होती है, फल-व्याप्ति नहीं अर्थात् वृत्तिका प्रयोजन केवल अज्ञानान्धकारकी निवृत्ति है; 'मैं ब्रह्मको जान गया'—इस प्रकारकी फल-व्याप्ति अथवा ब्रह्मज्ञानका अभिमान उत्पन्न करना नहीं। यदि ज्ञानसे ज्ञानी बनने लग जायँ तो ज्ञानियोंका एक मेला लगने लग जायगा। ज्ञान ज्ञानी-अज्ञानीका भेद उच्छेद करनेके लिए होता है।

इस निबन्धका सार यह है कि ब्रह्मज्ञानसे मुक्ति होती है, कर्म, उपासना आदिसे नहीं। कर्म-उपासना आदि चित्त-मलका नाश करनेके लिए उपयोगी एवं प्रयोजनीय हैं। इसलिए मुक्तिके साथ इनका क्रम-समुच्चय है, सम-सम्मुचय नहीं। संसार अज्ञानका ही विलास है। ब्रह्मात्मैक्य-बोधसे उसका विनाश हो जाता है इसलिए अज्ञान मिथ्या है। वह प्रतीत होता है परन्तु है नहीं। वह अज्ञान भावरूप है। अपने आश्रयको ही आवृत करता है। वह सत्त्वासत्त्व रूपसे अनिर्वचनीय है। यही ब्रह्मसूत्रके सिद्धान्तके रूपमें निर्णीत होता है यह बात असंदिग्ध रूपसे कही जा सकती है कि वेदान्त-सूत्रोंका परम-तात्पर्य इसीमें है कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः'।

इस प्रकार अद्वैत मतके अनुकूल जितने सिद्धान्त हैं वे सब केवल दो सूत्र उपक्रम-उपसंहारसे ही सिद्ध हो जाते हैं। अवश्य ही भगवान् व्यासकी रचना-शैलीके अपूर्व कौशलोंमें-से यह भी एक है, जिससे केवल आद्यन्त सूत्रसे ही ग्रन्थके सभी प्रतिपाद्य सिद्धान्त प्राप्त किये जा सकते हैं। बुद्धिमान पुरुषोंको इस पद्धतिसे भी समझनेका प्रयत्न करना चाहिए।

टिप्पणी : [स्वामी श्री चिद्घनानन्दपुरी जी महाराज बंगालके एक लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान् हैं। पूर्वाश्रममें ये 'श्री राजेन्द्र घोष'के नामसे प्रसिद्ध रहे हैं। इन्होंने संस्कृत तथा बँगलामें अनेक ग्रन्थ-रत्नोंकी रचना की है। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर तात्पर्यनिर्णयके लिए जिन अनेक कौशलोंका उल्लेख किया है, वे महामहोपाध्याय धर्मप्राण श्री लक्ष्मण शास्त्री द्राविड़के द्वारा संकेतित एवं अनुमोदित हैं। आशा है पाठकोंको यह नवीन युक्ति-कौशल विचारके लिए प्रोत्साहित करेगा। —सम्पादक]

द्वैतका खण्डन क्यों ?

प्रश्न यह है कि अद्वैतका निरूपण करनेके लिए जब द्वैतका खण्डन किया जाता है तब क्या उससे राग-द्वेषकी उत्पत्ति नहीं होती ? इसका उत्तर यह है कि द्वैतके खण्डनका अभिप्राय है पक्ष-प्रतिपक्ष दोनोंको द्वैत कक्षामें निक्षिप्त कर देना, जिससे दोनों ही अनिर्वचनीय सिद्ध हो जायँ। अनिर्वचनीयका अर्थ है—बाधित भासमान अर्थात् मिथ्या। इससे राग-द्वेषकी वृत्ति नहीं बनती, निवृत्ति होती है। अभिप्राय यह है कि भेद मिथ्या है तो भी राग-द्वेषका जनक नहीं है और अधिष्ठानसे अभिन्न है तो भी राग-द्वेषजनक नहीं है।

इस प्रकार द्वैतके बाध और अद्वैतकी सिद्धिसे भेदमूलक समग्र राग-द्वेषको आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। यह द्वैतका खण्डन राग-द्वेषकी वृद्धिके लिए नहीं, आत्यन्तिक निवृत्तिके लिए है। भेद-भाव ही राग-द्वेषका मूल है। द्रव्य, क्रिया, भाव, विवेक और स्थिति आदिके जितने भेद हैं, वे सब ब्रह्मात्मैक्य बोध न होनेके कारण ही हैं। इस बोधकी प्राप्तिके लिए द्वैतका निषेध अनिवार्य है।

●

त्रिदण्डी स्वामीके द्वारा प्रोत्साहन

भगवती भागीरथीके वैराग्यमय वातावरणमें विचरनेवाले त्रिदण्डो स्वामो श्री विष्वक्सेनाचार्यजो महाराजने एक युवा साधकको उपदेश किया—'तुम आसन-प्राणायाम आदिका अभ्यास किया करो।' साधकने प्रार्थना की—'स्वामीजी ! योगाभ्यासकी साधना अत्यन्त कठिन है। वह मुझसे कैसे बनेगी ?' स्वामीजीने कुछ कठोर स्वरमें डाँटते हुए कहा—'तुम परमार्थके इच्छुक हो। समर्थ युवा हो। विद्वान् हो, अधिकारी हो। अब तुम योगाभ्यास नहीं करोगे तो क्या पशु करेगा ? तुम अपनी पूरी शक्ति साधनमें लगा दो। तुम एक कदम ईश्वरकी ओर चलोगे, ईश्वर भी तुम्हारी ओर एक कदम चलेगा। तुम्हारा कदम छोटा-सा, उसके एक कदममें ही बेड़ापार। तुम हाथ उठाओ, वह पकड़कर खींच लेगा। उसके हाथ लम्बे हैं। औदार्य, नैराश्य छोड़कर साहस करो, सफलता मिलेगी।'

●

वृद्धोंकी उपयोगिता है

कहीं बरात जानी थी। कन्या पक्षसे सन्देश आया—'केवल युवक-ही-युवक बरातमें आयें, वृद्ध कोई न आये।' ऐसा ही प्रबन्ध किया गया। वरका पिता था वृद्ध। उसने आग्रह किया कि—'मैं अवश्य चलूँगा।' उसे छिपाकर ले जाया गया। द्वार-चारके बाद जनवासमें सन्देश भेज दिया गया कि—'हमारे गाँवमें छोटी-सी नदी बहती है उसे दूधसे भर दो, तब विवाह होगा, अन्यथा नहीं।' बरातके युवक निराश हो गये। लौटनेकी तैयारी होने लगी। किसीको कुछ सूझे नहीं। ज्ञात होनेपर वृद्ध पिताने कहा—'इसमें क्या रखा है। कन्या पक्षको समाचार भेज दो कि वे शीघ्र-से-शीघ्र अपनी नदी खाली करा दें हम दूधसे भर देते हैं।'

कन्यापक्ष वाले हार मान गये और समझ गये कि इनके साथ कोई वृद्ध पुरुष अवश्य है। अन्तःकरण-वृत्तिके नितान्त सात्त्विक होने पर ही ब्रह्माकारता होती है—यह कन्यापक्ष है। अन्तःकरण निर्वृत्तिक हो नहीं सकता, इसलिए वर्तमान स्थितिमें ही महा-वाक्य-जन्य ब्रह्माकारवृत्ति बना लेनी चाहिए। विवाहका यही शुभमुहूर्त्त है। यह वर पक्ष है। 'नदीको खाली कर दो'—यह केवल युक्ति है। वृद्ध गुरु है।

"ॐ भूरसि भूमिरस्यदितिरसि
विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री।
पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृंह पृथिवीं मा हिंसीः ॥"

—यजुर्वेद २२।२२

"हे बड़ी माँ! तुम सम्पूर्ण सुखोंकी दाता हो। तुम्हारा स्वरूप विशाल है। तुम स्वयं देवता हो और देवताओंकी माता हो। तुम सम्पूर्ण विश्वको अपने उदरमें धारण करती हो और उसका भरण-पोषण करती हो। सब प्राणी तुम्हारी गोदमें रहकर तुम्हारा ही दूध पीते हैं। तुम अपनी विशालताको और बढ़ाओ, अपनेको और दृढ़ करो और अपने-आपको कभी क्षीण मत करो।"

ब्रह्मलीन स्वामी श्री ब्रह्मप्रकाशजी महाराजके उपदेश

• यदि कोई सन्त मिल जाय।

एक कुत्तेके सिरमें घाव हो गया था। कीड़े पड़ गये थे। बाहर बैठे तो मक्खियाँ और अन्दर बैठे तो कीड़े। कहीं चैन न मिले। कभी बाहर, कभी भीतर। बिचारा व्याकुल होकर नदी तटपर गया कि शायद सिर जलमें डुबानेसे कीड़े बह जायँ और मक्खियाँ भी नहीं सतायेंगी। कहीं किसी दयालु मनुष्यको दया आ गयी तो दवा भी लगा देगा। वह नदीमें घुसकर बार-बार अपना सिर झटकने लगा। तटपर बैठे एक सहृदय व्यक्तिके मनमें दया उमड़ आयी और वह उसे पुचकार कर चिकित्सालयमें ले गया। उपचार किया। कुत्ता स्वस्थ होकर उसीके घरमें रहने लगा और घरकी रखवाली करने लगा।

एक गृहस्थ है। वह घरमें रह रहा है। व्यवहारकी, बच्चोंको खर्चेकी, सम्बन्धियोंकी, लेनदेनकी चिन्तासे बेचैन है। देवी जीकी माँग अलग। आवश्यकताओंका कहीं अन्त नहीं। वह घरसे दुखी होकर मसूरी चला गया। वहाँ भीतरकी वासनाओंने जोर मारा। 'अमुकको हुण्डी चुकानी थी। इन तिथियोंमें यह काम करना था। मुनीमसे कारोबार सम्भलेगा या नहीं ?' वहाँ भी न रहा गया। घर लौट आया। फिर वही दिन वही रात। वही चिन्ता, घरवालीके वही ताने।

एक दिन उनके निष्कामभावसे किये पुण्योंके फल जगे। तीर्थमें जानेकी रुचि हुई। 'सम्भव है कोई सत्पुरुष मिल जाय। चिन्ता-दुःख मिटनेका कोई मार्ग निकल आवे।' सचमुच ऐसा ही हुआ। अकेले गये। सत्संग मिला। विवेक, वैराग्य, श्रद्धा और जिज्ञासाने हृदयमें पदार्पण किया। दीक्षा प्राप्त करनेकी इच्छा हुई। ईश्वर कृपासे ब्रह्मवित्,

विद्वान्, अनुभवी गुरुकी प्राप्ति हुई। उन्होंने महावाक्यका उपदेश करके ध्यान, चिन्तन, विचारकी शिक्षा दी। वासनाएँ शान्त हुईं। शोक-मोह ढीले पड़े। मोक्षका साक्षात् साधन तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ। वह पहले जीवन्मुक्ति और फिर कैवल्यभावसे स्थित हुआ।

• इसलिए तुरन्त लग जाओ

जब साँप मेढकको पकड़ता है, तब वह उसे पिछली टाँगोंसे पकड़कर धीरे-धीरे कुचल-कुचलकर निगलता है। साँप मेढकके चिल्लानेकी परवाह नहीं करता। आधा निगलते-न-निगलते सामने मक्खी आयी, सो मेढकने मुँह फाड़कर मक्खीको पकड़ लिया और उसे निगलना शुरू कर दिया। उसे यह ध्यान नहीं आया कि जिस पेटके लिए मैं मक्खी खा रहा हूँ वह साँपके पेटमें पहुँच चुका है। यही दशा संसारी मूढ़, अज्ञानी जीवकी है। वह जन्मके समयसे ही कालके मुँहमें जाने लगता है। फिर भी अधेड़ होने तक भोग-भोगकर प्रसन्न होता रहता है। इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण हो गयी। शरीर अशक्त हो गया। परन्तु वासनाओंका क्या चमत्कार है कि वह युवाके समान ही विषयोंका सेवन करता रहता है। ओषधियाँ, उपचार, पौष्टिक पदार्थ कोई काम नहीं आते। शरीर क्षीण, शक्तिहीन। अन्तमें पलंग ही शरण है। भोग कर नहीं सकता, योग कर नहीं सकता। वासनाकी प्रचण्ड आग धू-धू करके जला रही है। मरणके बाद नरक। जीवन क्षण-क्षण मरणकी ओर बढ़ रहा है। मृत्यु दबेपाँव समीप आ रही है। इस देवदुर्लभ मानव शरीरको विषयवासनाके रोगसे ग्रस्त करके भोगमें नहीं लगाना चाहिए। प्रभुने जिस मुख्य उद्देश्यकी प्राप्तिके लिए यह मानव शरीर दिया है, उसकी प्राप्तिके लिए तुरन्त प्रयत्नमें लग जाना चाहिए।

• यह मुझतक नहीं पहुँच सकती !

सन्त श्री दादूजी महाराज अपने शिष्योंको उपदेश कर रहे थे। इसी समय एक सुन्दर, सुडौल, बीस वर्षके युवकने दण्डवत् करके विनीत और आतुर भावसे प्रार्थना की कि मैं संसारी विषयों एवं लोगोंसे ग्रस्त एवं संत्रस्त हूँ। मेरा जीवन अस्त-व्यस्त है। मेरी रक्षा कीजिये। मुझे निजजन समझकर अपनाइये। मुझे संन्यासकी दीक्षा एवं शिक्षा देकर कृतार्थ कीजिये। दादू जीने पूछा—'बेटा ! तुम कौन हो ? कहाँसे आये हो ? तुम किसके पुत्र हो ? तुम्हारे हृदयमें वैराग्य उदय होनेका कारण

क्या है ?' युवाने कहा—'मुझसे कुछ मत पूछिये, अपितु शीघ्र दीक्षा दीजिये कि मेरे शेष श्वास व्यर्थ न जायँ।' दयालु दादूने वैराग्यकी तीव्रता देखकर दीक्षा दे दी और भजनकी विधि बता दी। थोड़े ही दिनोंमें युवकका ध्यान-ज्ञान बढ़ने लगा। सेवामें भी उसकी रुचि और तत्परता बढ़ गयी।

तीन महीने बाद एक देवी, जिसका वह युवक एकमात्र पुत्र था और वह थी भी विधवा, दूरसे गाली देती हुई आयी। 'अरे दादू! तेरा सर्वस्व नाश हो। मुझ अनाथका यही तो एकमात्र सहारा था। अब कुलमें कोई पानीदेवा भी नहीं रहा। और तुमने उसे साधु बना लिया।'

शिष्योंने कहा—'महाराज! यह इसकी माता प्रतीत होती है। अवश्य कुछ-न-कुछ उपद्रव करेगी।'

दादू जीने कहा—'तुम शान्त रहो। वह मुझतक नहीं पहुँच सकती। युवक! तुम नेत्र बन्द करके ध्यानस्थ हो जाओ।'

वृद्धाके उपद्रव करने और गाली देनेपर भी दादूजीने सबको शान्त ही रक्खा। वृद्धा और उत्तेजित हो गयी। दादू जीके सिर पर थप्पड़ मारकर बोली—'अरे निपूते! मैं तुझे ही कह रही हूँ। कुछ उत्तर क्यों नहीं देता।' दादूजी चुप ही रहे। उनके स्पर्शमात्रसे ही वृद्धाका मन बदल गया और वह पश्चात्तापपूर्वक क्षमा याचना करने लगी। जब शान्त हुई तब उसने श्री दादूजीसे दो प्रश्न किये। एक तो यह कि 'पहले मेरा पुत्र अत्यन्त चंचल और उद्दण्ड था, वह अब शान्त क्यों हो गया है ?' दूसरा यह कि 'मैने आपको गाली दी, सिरपर थप्पड़ मारा और आपने कहा कि—'यह मुझ तक पहुँच नहीं सकती'—तो क्या आप कहीं और बैठे थे ?'

दादू जी बोले—'देखो, देवि! यह है तुम्हारा पुत्र, ध्यानस्थ है और शान्त है। इसकी जाँच-पड़ताल तुम स्वयं कर लो। रही बात मेरी, सो मैं तो पाँच दरवाजोंके भीतर बैठा हूँ और तुमने पहले दरवाजेको थप-थपाया है। अबतक भी तुम मेरे पास नहीं पहुँचीं।' वृद्धाकी समझमें कुछ नहीं आया। अब दादूजीने उसे पाँचों कोश समझाया। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—ये पाँच कोश हैं और मैं इनके भीतर शुद्ध, साक्षी, चैतन्य, असंग, कूटस्थ, निर्विकार, प्रकाशमय, तू भला मेरे पास कैसे पहुँच सकती है ?

दादू जीने आगे कहा—'एक व्यक्ति शीतकालमें जंगलकी यात्रा कर रहा था। उसने अपने शरीर पर बनियान, कमीज, स्वेटर, कोट और ओवर कोट—ये पाँच वस्त्र पहन रक्खे थे। चलते-चलते बबूल वृक्षका एक काँटा उसको चुभ गया। वह तो केवल ऊपरके कपड़ेमें चुभा, भीतरके शरीरके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं हुआ। केवल ओवरकोट थोड़ा-सा फट गया। अब उसको क्या पीड़ा है? इसी प्रकार मैंने भी पञ्च कोशके पाँच वस्त्र पहन रक्खें हैं। ये कभी फट-फूट जायँ तो इनके सुख-दुःखसे मुझे क्या क्षोभ है। इस उपदेशसे वृद्धा माताके हृदयमें वैराग्यकी अग्नि प्रज्वलित हो गयी। उसने भी दादू जीकी कृपा पात्र शिष्या बनकर तत्त्वचिन्तन किया और सेवा, भजन, ध्यानके द्वारा अपना जीवन व्यतीत किया।

• समलोष्टाश्मकाञ्चनः

स्वामी श्री विद्यारण्यजी महाराज एक वनमें रहते थे। नित्य कर्मके लिए नदीतटपर जाया करते थे। बाढ़ आयी और तट कुछ टूट गया। स्वामी जीने मलत्यागके समय देखा कि वहाँ एक विशाल सुवर्ण-राशि पड़ी है। उसे देखकर न तो उनके मनमें लोभ आया, न तो उसे छूआ। प्रतिदिन वहाँ सायं-प्रातः जाते रहे। इसी प्रकार कुछ समय बीत गया। एक दिन राजपुरुष बाँध बनानेके लिए नदी तटका सर्वेक्षण करने आये। एक ओर सुवर्ण-मुद्राकी विशाल राशि और दूसरी ओर स्थान-स्थान पर मल देखकर उन्होंने निश्चय किया कि अवश्य ही यहाँ कोई महापुरुष आता होगा। उन्होंने पता लगा लिया कि यह विद्यारण्य स्वामीका काम है! उन्होंने स्वामीजीके पास जाकर सविनय प्रश्न किया—'महाराज! आप प्रतिदिन इतनी बड़ी धन-राशि देखते हैं। न उठाते हैं, न किसीको बताते हैं कि वह उठा ले जाय। इसका क्या कारण है?'

स्वामी जीने उत्तर दिया कि—'मेरे विचारसे सुवर्णकी अपेक्षा मिट्टी उत्तम है; क्योंकि मैं उससे अपने हाथ धोकर पवित्र करता हूँ। मल और सुवर्ण तो समान कक्षामें हैं।'

सच है महात्मा स्वभावसे ही 'समलोष्टाश्मकाञ्चनः' होता है।

• केवल योग्यता चाहिए

जिज्ञासुने कहा—'जैसे परमहंस रामकृष्णने नरेन्द्रपर शक्तिपात करके निर्विकल्प स्थिति प्राप्त करा दी थी, आप भी वैसा ही कर दीजिये।'

महात्माने कहा—'परमहंसजीने विवेकानन्द (नरेन्द्र)के अतिरिक्त और किसी पर शक्तिपात क्यों नहीं किया ? भगवान्‌के मुखसे गीताका उपदेश सुनकर अर्जुनका ही कल्याण क्यों हुआ ? कौरव-पाण्डव पक्षके अन्य वीरोंका क्यों नहीं हुआ ? सुननेमें तो कोई बाधा थी नहीं। योग्य अधिकारीपर ही शक्तिपात होता है। सच तो यह है कि गुरु केवल भ्रान्तिजन्य आवरणको ही दूर करता है; कोई नयी वस्तु उत्पन्न नहीं करता।

उदाहरणके लिए इस बातको एक लौकिक दृष्टान्तसे समझ सकते हैं। सेठजी बिलम्बसे घर पहुँचे। नौकरसे बोले—'भूख लगी है, ताजा भोजन लाओ।' सेवकने तत्परतासे भोजन बनाया और उनके सम्मुख परिवेषण कर दिया। सेठजीको भोजनमें एक काली-काली वस्तु दिखी और उन्होंने समझा कि यह मरी मक्खी है, हाथ खींच लिया। बोले—'हटाओ इसे। गन्दा है, अपवित्र है।' सेवकने कहा—'स्वामी ! यह मक्खी नहीं, काली मिर्च है।' हाथसे उठाकर दिखा दिया। सेठजी भोजनमें प्रवृत्त हो गये।

अब प्रश्न यह है कि क्या सेवकने सेठ जोके भोजनका विधान किया ? क्या उन्हें प्रेरणा या प्रवृत्ति दी ? नहीं-नहीं, वह तो पहलेसे ही भोजनके लिए प्रवृत्त थे। केवल भ्रमवश मिर्चको मक्खी समझकर निवृत्त हो रहे थे। सेवकने उनका भ्रम दूर कर दिया। अभिप्राय यह है कि शिष्यका आत्मा स्वयं ब्रह्म है। केवल भ्रमवश शिष्य अपनेको परिच्छिन्न कर्ता, भोक्ता, संसारी, बद्ध मान रहा है। शक्तिपात करके उसे ब्रह्म बनाना नहीं है। केवल उसके भ्रमको दूर करना है। जो वैराग्यवान् एवं तीव्र-जिज्ञासु होता है, उसका भ्रम तत्काल दूर हो जाता है।'

'मरमी' सन्त-दादू ★ श्री प्रमथनाथ भट्टाचार्य

ग्रीष्मकी गिरती हुई वेला। सारा आकाश मेघाच्छन्न हो रहा है। फिर, हवाके झोंकेके साथ वृष्टि भी प्रायः आ ही पड़ी। अहमदाबादके उपकण्ठमें चमारोंके मुहल्लेके पाससे साधक कमाल द्रुत गतिसे चले जा रहे हैं। आजकी इस वर्षाको टालना बड़ा कठिन है। दो-एक बूंद जल देहपर पड़ते ही वह एक छोटेसे गृहके सम्मुख थम गये। वृष्टि इतनी ज्यादा नहीं, इसलिए बरामदेमें न जाकर वह छाजनके तले ही खड़े रहे। गृहके भीतर एक मोची अपने कार्यमें बहुत व्यस्त है। पानी ढोनेके मशककी सिलाई कर वह अपनी जीविका अर्जित करता है। कमालने विचार किया, कुटीरके भीतर घुसकर क्यों इस गरीबको व्यर्थ व्यस्त करूँ? इस गरीबके अर्थार्जनमें क्यों बाधा दूँ?

किन्तु चर्मकारने ताड़ लिया कि दरवाजेपर एक आगन्तुक खड़ा है; झड़ और बादलमें वह आश्रय खोज रहा है। व्यस्त भावसे बाहर आ, सलाम कर उसने कहा—'बाबा, यह घर एक गरीब चमारका है—क्या इसीलिए आप भीतर आनेमें संकोच कर रहे हैं?' 'नहीं भाई, ऐसी बात नहीं। मैं तो दीनदयाल हरिका एक दीन दासमात्र हूँ। मुझे क्या कहीं अभिमान शोभा देता है? सोच रहा था, तुम्हारे काममें कहीं बाधा न पड़े और तुम्हारी मजूरी कम न हो जाय।'

मोची भी यों छोड़नेवाला नहीं। अभिवन्दनाकर, कमालसे वह बार-बार भीतर आनेका अनुरोध करने लगा। लाचार हो उन्हें गृहस्वामीके साथ भीतर आना पड़ा। एक टुकड़ा मलिन चमड़ा झाड़कर गृहस्वामीने उसे अपने विशिष्ट अतिथिको बैठनेके लिए दिया। किन्तु, यह क्या अद्भुत व्यापार! आगन्तुक उस आसनपर बैठते ही ऐसे व्याकुल भावसे रोने क्यों लगे? दोनों हाथ अञ्जलिबद्ध हैं—अर्द्धनिमीलित नयन-युगलसे अजस्र अश्रु-धारा प्रवाहित हो रही है। चर्मकार शंकित हो करुण कण्ठसे कहने लगा—'बाबा, मैंने जान बूझकर आपके मनपर आघात नहीं किया। इस गरीबखानेमें चमड़ेके टुकड़ेको छोड़ आसन देने लायक और है ही नहीं।'

कमालने प्रकृतिस्थ होकर कहा—'नहीं भाई, यह नहीं। तुमने चमड़ेका आसन दिया है, इसके लिए मेरा यह रोना नहीं है। तुम्हें देख मेरी दृष्टि आज अपने हृदयके भीतर पड़ी और इसी कारणसे यह अश्रु-राशि निकल पड़ी है। जो कुछ भी तुम्हारे पास है—सरल प्राण और सच्चे प्रेमसे उसे ही तो तुमने मेरे लिए बिछा दिया है। अपने अन्तस्तलमें ध्यान कर मैंने देखा—इतना सहज, इतना स्वाभाविक तो मैं आजतक भी नहीं हो पाया। आजके दिन मैं तुम्हारे छाजन-तलमें खड़ा था, मेरे प्राण-प्रभु भी इसी भावसे रोज इस जीवनके द्वारपर खड़े रहते हैं और रोज ही वे व्यथातुर अन्तरसे लौट-लौट जाते हैं। जो कुछ भी सामान्य वस्तु मेरे पास है, उसे तो मैं इस तरह सहज-भावमें नम्र और निरभिमान होकर उनके सम्मुख बिछा नहीं पाता हूँ। अहंकारकी कितनी सूक्ष्म ग्रन्थियाँ जड़ी हुई हैं मेरे इस जीवनमें, साधना में! इसीसे तो मेरे प्रेम-भिखारी प्रभु बार-बार लौट जाते हैं। अपने ही दोषसे उन्हें इस रीतिसे लौटा देता हूँ। इन्हीं बातोंकी याद आनेसे तो आज वेदनाके अश्रु झर रहे हैं।'

सरलप्राण निरक्षर चर्मकारने साधक कमालकी इस हृदयवेदना और भावावेगके अनेकांशको सम्भवतः समझा ही नहीं। किन्तु, उसके सरल स्वाभाविक जीवनमें अश्रुजलने अज्ञात भावसे जैसे एक स्फुट स्पन्दनको जगा दिया। उसने निःसंकोच भावसे प्रश्न किया'—'किन्तु कौन है वह आपका प्रभु?'

'वत्स! सबके जो प्रभु हैं, वही हैं मेरे भी जीवन-प्रभु।' 'वे क्या ऐसा होनेसे मेरे भी प्रभु हैं? मेरे इस जीवनके चौखटेपर भी क्या वे इसी भावसे अपेक्षा कर रहे हैं।'

'हाँ जी, हाँ, सबके ही वे स्वामी हैं। सबके ही जीवन-द्वारपर अथक धैर्यसे वे प्रतिदिन अपेक्षा करते हैं। तुम्हारे लिए भी कर रहे हैं। शुद्ध होकर, प्रेममें गलकर सहज भाषासे उनका आह्वान किया जाता है। यही तो मानव-साधनाका मूल मन्त्र है।'

बाहरकी वर्षा इस समयतक थम गयी। किन्तु, चर्मकारके मर्म तलकी वर्षा कहाँ थम रही है? उसके दोनों उदास नयनोंसे अविराम आँसू झर रहे हैं। सन्ध्याके घन-अन्धकारमें साधक कमालने आश्रय-दाता मोची-को अपना हार्दिक आशीर्वाद देकर बिदा ली। उस दिनका वह आशीर्वाद-पूत चर्मकार ही भारत-विश्रुत मध्ययुग-के अन्यतम मर्मी साधक दादू हैं और उनके घरमें आगत ये कमाल ही हैं—लोकगुरु कबीरके पुत्र और उनके सार्थक नाम शिष्य। जैसे एक दुर्ज्ञेय दैवी विधानसे प्रेरित हो कमालने

दादूके घरमें प्रवेश किया और उनके अन्तरको भगवत्प्रेमके रंगसे रंजित कर दिया। वह रंग आगे चलकर समस्त उत्तर भारतके भक्तसमाजमें फैल गया।

कमाल तो चले गये, पर दादूके हाथका काम अभी अधूरा ही था। वे उसे पूरा करनेको बैठ गये। आखिर यही तो उनकी जीविका थी। किन्तु मन जैसे कहीं उड़-उड़ जाता था। हाथका सुई-तागा अतर्कित ही रुक जाता है और अन्तस्तलमें ध्वनित होता है – अस्फुट विरह गुंजन। 'मेरे जीवन-मरणके प्रभु! युग-युगसे इसी तरह क्या तुम मेरी राह देखते खड़े हो? सहज हो, एकनिष्ठ हो, कब तुम्हें हृदयमें स्थापित कर सकूँगा?'

दयालु कमाल दादूके जीवनके रुद्ध स्रोतको उन्मुक्त कर गये। भक्तने बार-बार इसीसे इनके निकट जाकर प्रणाम किया और बोल—'बाबा! प्रभुकी कथा कहकर आपने मुझे पागल बना दिया है। इस बार उन्हें लाकर हृदयासनपर बैठानेका उपाय कर दो। आलोकका सन्धान कहाँ पाऊँगा? कृपा करके बता दो। मेरे चारों ओर केवल पुंजीभूत अन्धकार है।'

साधक कमालने उन्हें तुरत आश्वासन देकर कहा—'चिन्ता करनेकी जरूरत नहीं। जो प्रभु हैं वही गुरु भी हैं। व्याकुलता और प्रेममें जैसे-जैसे वृद्धि होगी, वैसे-वैसे ही साधनाका पथ भी सुस्पष्ट और सुगम होता जायगा। आलोकोद्भासित हो प्रभु तब स्वयं दर्शन देंगे।'

जन्म-जन्मान्तरकी तपस्याकी अग्नि सञ्चित हुई पड़ी थी इस कंगाल चर्मकारके जीवनमें। इसके ही उत्तापसे वह समग्र जीवन चंचल हो इधर-उधर भटकता आ रहा था। मर्मी साधक कमालके स्पर्शने उसके भीतर आमूल परिवर्तन कर दिया और उसने प्रेम-साधनाका व्रत ले लिया। इसका निदर्शन दादूकी वाणीमें इस प्रकार मिलता है—

गैब माँहि गुरुदेव मिला
पाया हम परसाद।
मस्तक मेरा कर धरा
दख्या अगम अगाध॥

रंध्रहीन तिमिर भेदकर मेरे गुरु प्रकाशित हुए, मैंने उनका प्रसाद लाभ किया। मेरे सिरपर हाथ रख उन्होंने आशीर्वाद दिया और मैंने प्राप्त की अगाध दीक्षा।

१५४४ ई० में फाल्गुन मासकी शुक्लाष्टमी तिथिको बृहस्पतिवारके दिन भक्त दादूका जन्म हुआ था—एक नितान्त दीन-हीन मुसलमान परिवारमें। सम्पन्न परिवारमें शिक्षा-दीक्षाकी जो सुविधा रहती है, वह किसी दिन भी उन्हें प्राप्त नहीं हुई। इस अशिक्षित चर्मकार बालकमें ऐसा तो कुछ नहीं था जो उसके उत्तर

जीवनके विकसित और पुष्पित रूपकी सूचना देता।

दादूकी चरम सम्पदा थी उनके अन्तरका नितान्त सहज प्रेम और निरभिमानता। इसीके मध्यसे मर्मी साधककी रसोज्ज्वल धारा फूट पड़ी। दुर्भाग्यकी बात है कि इस परम भागवतके बाल्य-जीवन-सम्बन्धी बातोंकी जानकारी बहुत कम ही प्राप्त है। केवल इतना ही ज्ञात है कि उनके पिताका नाम था लोदी और माताका बसी बाई। चमार-पल्लीके चरम दारिद्र्य और अशिक्षा-पूर्ण वातावरणमें रहनेवाले दादूको एकान्तभावसे अपने सहज गुणोंपर ही निर्भर रहना था। बाल्यकाल और किशोरावस्थाके बाद यौवनकालमें भी कोई असाधारण विशेषता उनमें नहीं पायी गयी। उनका जीवन दुःख-दैन्यपूर्ण साधारण गृहस्थका जीवन था। पत्नी 'हावा' एवं चार-पुत्र-पुत्रियोंका उनका परिवार था। अनित्य और दुःखमय कहकर इस संसारसे दादूने कभी भी विरक्ति नहीं दिखलायी। असत् और सत् उनके जीवनमें एकाकार हो रहे थे।

दादूके ज्येष्ठ पुत्र गरीबदास उत्तर-कालमें मर्मी साधक-रूपमें प्रसिद्ध हुए। कनिष्ठ पुत्र मस्किनदास और दोनों कन्याएँ—ननी बाई और माता बाई भी आध्यात्मिक जीवनके पथमें बहुत दूरतक अग्रसर थीं।

दादूके जीवनमें उस दिन नूतन आलोकका प्रवेश हुआ। वे घरसे बाहर हो पड़े। नाना देश-देशान्तरका पर्यटन किया। काशी एवं विहार और बंगालके अनेक स्थानोंमें वे भटकते रहे। इस बीच वे सहजमत, शून्यवाद, निरंजनवाद, नाथपंथ आदिके साधन-तत्त्वोंका आस्वादन करते जाते थे। कहा जाता है कि नाथपंथकी योगसाधनामें दादूने एक समय असामान्य सफलता अर्जित की और 'कुम्भारीपार' नामसे वह नाथ-योगियोंके बीच प्रसिद्ध हो गये। 'कुम्भारीपार' शब्द था इस पंथके एक प्राचीन महायोगीकी योग-विभूतियोंका द्योतक। दादूपंथी योगियोंके बीच आज भी कहीं-कहीं कुम्भारीपार-रचित कितने ही ग्रन्थ सयत्न रक्षित हैं। इनमें कुछके नाम हैं—अजपा गायत्री-ग्रन्थ, विराट् पुराण, योगशास्त्र, अजपा ग्रन्थ और अजपा श्वास।

साधक दादूने अपने परिव्राजक जीवनके कुछ दिन बंगालमें बिताये थे। इस समय बंगाली नाथपन्थी योगियोंके सन्निध्यसे वे बड़े उपकृत हुए। दादूपंथियोंके वाणी-संग्रहमें बंगाली नाथ-योगियोंके भाव और भाषाका गहरा प्रभाव मिलता है—

दादू हिन्दू तुरकन होइबा
साहब सेती काम।
षड्दर्शनके संगन जइबा
निरपथ कहिबा राम॥

भारतके विभिन्न अंचलोंमें परिभ्रमणके बाद दादू राजस्थानके साँभर नामक स्थान पर आकर रहने लगे। शिष्यमण्डली और अपने परिवारके साथ वे पूर्णाङ्ग और सामञ्जस्यपूर्ण जीवन बिताने लगे। स्वजन वर्गके साथ वह स्वयं भी प्रतिदिन जीविकोपार्जनके लिए परिश्रम करते। उस समय शिष्यगण समेत उनके परिवारके प्राणियोंकी संख्या कम न थी। इसलिए कष्टसे ही उनका जीवन-यापन होता था। परन्तु दादू इसमें भी श्री भगवान्का हाथ देखते। उनका दृढ़ विश्वास था कि—

दादू रोजी राम है
राजिक रिजक हमार।
दादू उस परसाद सौं
पोष्या सब परिवार॥

अर्थात्, हे दादू, राम हो मेरे प्रतिदिनके अन्न हैं, वही मेरी वृत्ति हैं। वही मेरी जीविका हैं। उनका प्रसाद पाकर ही तो मेरे समस्त परिवारका भरण-पोषण होता है।

दादू मन्दिर-मस्जिदकी साम्प्रदायिक सीमा-रेखाको नहीं मानते थे। उनके निकट हिन्दू-मुसलमानका भेद भी कभीका विलुप्त हो गया था। उन्होंने सकल मानवजातिके कल्याणार्थ सत्यानुचरणका सहज पथ खोल दिया था। सनातनपंथी हिन्दू साधक और मुसलमान उलमा आकर कहते, 'दादू, धर्म-साधना या सेवा-कार्य किसी एक सम्प्रदायमें रहकर ही तो सम्भव है। तुम किस सम्प्रदायके हो?' दादू कहते, 'भाई! चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी, आकाश, हवा, जल—ये सभी तो निरन्तर सेवा-कार्यमें रत रहते हैं। कहो तो वे सब किस दल या सम्प्रदायको माननेवाले हैं?'

दादूका समस्त जीवन परमेश्वरकी सहज करुणा और प्रकाशसे ओतप्रोत था। वह परमेश्वरको छोड़कर न तो अन्य किसीको जानते और न जानना चाहते। वह जिज्ञासुओंसे कहते—

'अलख इलाही जगत् गुरु,
दूजा कोई नाँही।'

जो अलख था वही ईश्वर और गुरु है।

साधक दादूके अनुयायियों और अनुरागी भक्तोंको लोग ब्रह्म-सम्प्रदायी कहा करते थे। दादू सनातनपंथी साधक नहीं थे। शुद्ध ज्ञान-मार्गको भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उनकी साधना प्रेम और भक्तिसे रसायित थी। अपने आध्यात्मिक ऐश्वर्यके आलोकमें वे अपने शिष्यों और भक्तोंके साथ नृत्यगीतमें विभोर हो जाते। गुजरातके काठियावाड़ अंचलमें भ्रमण करते समय दादू एक बार भजनिया दलके मंजीरा, वाद्य एवं नृत्यको देखकर मोहित हो गये थे। उसके बाद वे भी अपने अनुयायियोंके बीच बड़े उत्साहसे इस नृत्य-गीतका सहारा लेने लगे।

किन्तु इस नृत्य-गीतमय साधन-भजनमें दादू अन्तरकी व्याकुलता और भावमयतापर विशेष जोर देते। एक बार एक प्रसिद्ध संगीत-शिल्पी दादूकी कीर्त्तन-सभामें गाना गा रहे थे। उनकी संगीत-शैलीमें तान और आलापके करतबकी अत्यधिक प्रधानता थी। भक्त दादूने उस्तादको बुलाकर कहा—'भाई, प्रभुकी स्तुति क्या इस तरहसे गायी जाती है? सदा इस भावसे गान करो कि उनका ही प्रकाश सदा प्रमुख रहे! सतर्क रहना कि कभी भी तुम्हारे अहंका प्रकाश कहीं बड़ा न हो उठे। ऐसा होनेसे भजन-स्तुतिके साथ-साथ तुम्हारी यह ललित कला भी व्यर्थ हो जायगी।'

एक बार नारायण ग्राममें बड़े समारोहसे होली मनायी जा रही थी। प्रसिद्ध गायक बखनाजी सोत्साह वसंतका गान गाकर सारे जलसेको मस्त कर रहे थे। दादूने आवेग भरे कण्ठसे हठात् शिल्पी बखनाको कहा, 'भाई, आज इस वसंतको अपने संगीतमें मूर्त्त करनेका जो कुछ प्रयास आपने किया है, सब अर्थहीन हो रहा है। समस्त उत्सव ही जैसे व्यर्थ है—यदि प्रियतम प्रभुके संग मिलन न हुआ तो जितनी कुछ शोभा और नाचगान हैं, सब व्यर्थ हैं—

'ऐसी देह रची रे भाई।
रामनिरंजन पावो आई॥'

अरे मेरे भाई, ऐसे आनन्दकी रचना करो जिसमें प्रभुका गुनगान हो।' मालूम पड़ता है कि उस दिन उस्ताद बखनाके जीवनका निर्दिष्ट शुभ लग्न आ गया था। इसीसे दादूकी मधुर प्रेममय वाणी और अश्रुसजल दोनों नयनोंने उस संगीत-शिल्पीको झकझोर दिया। वह ईश्वरकी नामसुधामें मस्त हो गया। दादू परमाश्रयकी प्राप्तिके बाद एक श्रेष्ठ भक्तके रूपमें खूब प्रसिद्ध हुए।

परवर्ती कालमें दादूने राजस्थानके अम्बर शहरमें चौदह वर्षों तक वास किया। इस कालमें उनके अनुगामी साधकोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी थी। शिष्य और भक्त-दल दिन भर अपने गार्हस्थ्य-धर्मका पालन करते किन्तु प्रति सन्ध्या और रात्रि दादूके नेतृत्वमें इकट्ठे होते। कभी-कभी भिन्न-भिन्न धर्मके आचार्य और उलमा भी वहाँ आ जाते। धर्म-चर्चा और भजन-कीर्त्तनसे इस मिलन-सभामें अध्यात्मको अमृतधारा बह जाती। यह स्थल मानों भक्तों और साधकोंका मिलन-केन्द्र था। तत्त्व और साधनाके आदान-प्रदानका एक उदार क्षेत्र था। दादू-पंथी इसे संज्ञा देते अमल दरीबा अर्थात् अलख निरञ्जनके आनन्द-हाट की।

एक तरफ आनन्द-हाट और इष्ट-गोष्ठी चलती, दूसरी ओर दादू आन्तरिक साधनाके गम्भीर रसमें

निर्मज्जित रहते। प्रेमकी साधनामें उस समय मानों उन्होंने एक बार ही सर्वस्वकी बाजी लगा दी हो। सकल आकर्षण, सकल अभिमान त्यागकर दादू अपने स्वामीमें डूबे रहते। वे अपनेको एकदम ही निःशेष कर देना चाहते थे। उनकी सम सामयिक वाणीमें पाया जाता—

दादू है को भय घणाँ
नाही कौं कुछ नाहि।
दादू नाही होइ रहु
अपने साहिब माँहि॥

हे दादू! जिसके पास अनेक कुछ है उसे भय भी अनेक हैं; जिसके पास कुछ नहीं, उसे भय भी कुछ नहीं। हे दादू! अपने स्वामीमें इसी प्रकार शून्यवत् वास करो—अपनी सत्ता और मैं को निःशेष कर दो।

परम भागवतकी दृष्टिसे साधनाके जिस मूल तत्त्वकी उपलब्धि होती है उसे भी वे भक्तोंको सुनाते—

जहाँ राम तँह मैं नहीं,
मैं तँह नाहीं राम।
दादू महल बारीक ह,
दोउ कु नाही ठाँउ॥

'जहाँ मेरे राम हैं (ईश्वर हैं) वहाँ मैंपनका लेश नहीं, और जहाँ 'मैं' हूँ, वहाँ राम नहीं। हे दादू, अत्यन्त सूक्ष्म तथा सँकरा है वह श्रीमन्दिर—उसमें उन दोनोंके लिए जगह नहीं।'

भगवान्‌के साधककी इस शुद्ध सत्ताका परम-मिलन हो तो चिर-प्राप्ति है। इसीकी प्रतीक्षामें भक्त दादूका हृदय आकुल था। और इसी एक निष्ठाके फलस्वरूप उनके साधन जीवनमें अपूर्व शुद्धि आ गयी, प्रेम-रसकी सुधा-धारा उद्‌गत हो उठी। किन्तु प्रेमास्पदका दर्शन कहाँ? साधक दादूकी समग्र सत्तामें उस समय सकरुण आवेदन ध्वनित हो रहा है—

दादू पेआला प्रेमका,
साहिब राम पिलाई।
परगट पेआला देहु भरि,
मिरतक लेहु जिलाई॥

'हे भगवान्, हे मेरे स्वामी, प्रेमका प्याला तो तुमने पान कराया किन्तु अब अपना दिव्य दर्शन देकर इस प्यालेको पूर्ण कर दो, इस मृतकमें इस बार जीवन-दान करो।'

दादूकी यह प्रेम-साधना आत्म-निवेदनके माधुर्य्यसे भरपूर थी। एकान्त शरणागति और एकनिष्ठाके सहारे वह उसी परम एकमें अपनेको निःशेष कर देना चाहते थे। सैकड़ों वर्ष बाद आज भी इस मरमी साधकका आकुल आवेदन समग्र भारतके भक्त-समाजमें प्रतिध्वनित हो रहा है—

तुम्ह कू हमसे बहुत हैं,
हम कू तुमसा नाहिं।
दादू कू जिन परिहरै,
रहु नैनहु माहिं॥

तुम्ह थै तरहीं होई सब,
दरश परश दर हाल।
हम इबहूँ ना होइगा,
जे बीतहिं जुग काल ॥
तुमही तैं तुम्ह कू मिले,
एक कलक मैं आई।
हम कबहूँ ना होइगा,
कोटि कलप जे जाई ॥

'हे राम! मेरे समान तुम्हारे अनेक हैं, किन्तु तुम्हारे समान तो मेरा और कोई नहीं। दादूका कभी परित्याग न करना, सदा मेरे नयनोंमें रहना। तुमसे ही सब कुछ होगा—दरस-परस और प्रेम-वैवश्य। मैं जानता हूँ, युग-युगान्तर काटने पर भी मुझसे कुछ न होगा। प्रभु, तुम्हारी कृपा होनेसे एक पलमें तुम्हें पा लूँगा। किन्तु मेरी शक्ति द्वारा कोटि-कल्प कालमें भी यह नहीं होगा।'

प्रियतमके साथ मिलनकी यह साधना दुष्कर तपस्या और दैन्यमय जीवनका पथ नहीं—बल्कि रस-मधुर प्रिय-पथ-यात्रा है। दादूके अन्तरंग शिष्य रज्जबकी साधना और आचरणमें यह रसोज्ज्वल तत्त्व खूब प्रस्फुटित हुआ है। उनकी प्रेम-साधनामें भावमयताके साथ मिश्रित थी प्रियतमके अनुरूप साज-सज्जा। इस वेश-भूषाके सम्बन्धमें प्रश्न करनेपर वे दादूका विख्यात अर्थ-भरा वाक्य कहते—'भाई, प्रियतमके संग क्या दीन-हीन, अशुचि वेशमें मिलना शोभादायक है? प्रेम आनन्द और ऐश्वर्य—यही तो इस महा-मिलनका पाथेय है।'

भक्त दादूकी इस प्रार्थनामें उनका अपना प्रेम-मधुर जीवन-दर्शन जैसे मूर्त्त हो उठा है—

आशा अपरंपार की
बसि अंबर भरतार।
हरे पटंबर पहिरि कटि,
धरती करै सिंगार ॥
वसुधा सब फूलै फलै
पिरथी अनन्त अपार।
गगन गरजि जल-थल भरै
दादू जय जय कार ॥
काला मुँह करि काल का,
साईं सदा सुकाल।
मेघ तुम्हारे घरि घणाँ
बरसहु दीनदयाल ॥

अर्थात् आकाशमें बसे हुए उस स्वामीके निर्देशसे हरी साड़ी पहन कर धरतीने शृंगार किया है। समग्र वसुधा आज फल और फूलसे शोभित है। अनन्त-अपार पृथ्वीके जल-थलको गगन गरजकर भर रहा है। दादू कहते हैं—जय हो, प्रभुकी! जय हो, प्रभु की! कालका काला मुँह करके मेरे स्वामी तुम सदा ही सुकाल रूपसे विद्यमान रहते हो। तुम्हारे आलयमें है अजस्रघन मेघकी राशि, हे दीनदयालु! आज उसे बरसाओ।

विरहकी ज्वाला और साधनाके मन्थनसे भक्त दादूके जीवनमें परम

प्रार्थित अमृत उद्गत हुआ—भगवत्-दर्शन पा वे कृतार्थ हुए। इस साधना और सिद्धिका इंगित दादू अपनी वाणीमें छोड़ गये हैं।

मथि करि दीपक कीजिये
सब घट भया प्रकाश।
दादू दिया हाथ करि
गया निरंजन पास॥

'इस साधन-सत्तारूप घटका मंथन कर प्रदीप प्रज्वलित करो। उसके आलोकसे सारा घर ही प्रकाशित हो गया। दादू, उसी प्रदीप-हस्तसे निरंजनके पास पहुँच गया।'

साधनाकी सार्थकताने इस बार दादूके जीवनको रूपान्तरित कर दिया। सद्गुरुकी कृपासे अतीन्द्रिय जीवनका सद्-द्वार उनके सम्मुख उन्मुक्त हो गया। महा-जीवन पद्मरंग और रससे भरकर खिल उठा। उसके सौरभसे चारों दिशाएँ आमोदमें डूब गयीं। अज्ञात आकर्षणसे खिंचकर चतुर्दिक्से पुण्य-लोभी मुमुक्षु-दल लुब्ध भ्रमरके समान आ-आकर भीड़ करने लगे। एकके बाद एक भक्त साधक-दलने उसका आश्रय ग्रहण किया। दादूके इन प्रधान शिष्योंकी संख्या बावन थी। उनके बीच उल्लेखनीय हैं—रज्जबजी, सुन्दरदास (छोटे), जाइसा, माधोदास, प्रयागदास, गरीबदास, बखनाजी, बनवारीदास, शंकरदास, जनगोपाल, जगजीवन इत्यादि। सम-सामयिक दादू-पंथियोंकी भाषामें ये सब एक-एक 'खम्भा' या 'साधन-स्तम्भ'के प्रवर्त्तक माने जाते हैं।

साधनाके उत्कर्ष और सार्थकताके साथ प्रत्येक महापुरुषके जीवनमें अति प्राकृत शक्ति-लीला भी स्फुरित होती है। साधारण मनुष्यकी दृष्टिमें जो नितान्त अलौकिक और विस्मय-कारी लगता है, वही लोकोत्तर मानवोंके जीवनमें नितान्त सहज और स्वाभाविक हो उठता है। परम भागवत दादूके जीवनमें भी इस ज्योतिका विकीरण बीच-बीचमें देखा जाता है। दादू-पंथियोंके ग्रन्थमें उनके विभूति-प्रकाशके नाना उल्लेख पाये जाते हैं।

एक बार भक्त दादू चातुर्मास्य-अनुष्ठानके उपलक्षमें आँधी-ग्राममें जाकर कुछ दिन रहे। उन दिनों वहाँ वर्षाका कोई लक्षण दिखायी नहीं पड़ता था। सूखा और अकालके भयसे जन-साधारण अत्यन्त आतंकित हो उठा था। सब मिलकर साधक दादूके पास गये। कहा जाता है कि दादूकी एक विनतीपूर्ण भगवत्-प्रार्थनासे वहाँ अविलम्ब वर्षा हो गयी।

टोंक-अंचलमें एक बार एक विराट् महोत्सव अनुष्ठित हुआ। अनेक भक्त और साधु-सन्तोंके आगमनसे वह स्थान मुखरित हो उठा। ज्यादा जन-समागमके फलसे वहाँ खाद्य-

द्रव्योंकी कमी पड़ गयी। प्रबन्धकोंने भीत हो भक्त-प्रवर दादूकी शरण ली। उनकी कृपाके सिवा इस विपद्से उद्धार पानेकी कोई भी आशा नहीं थी। दादू-पंथियोंके बीच प्रसिद्ध है कि दादूने अपने उपास्यको भोग लगाया और उधर भोज्यका भंडार जैसे अक्षय हो उठा। महोत्सवके आयोजनके अनुपातसे उस दिन अभ्यागतोंकी संख्या कई गुना अधिक थी। किन्तु दादूके अलौकिक शक्ति-फलसे उस दिन कोई असुविधा नहीं हुई।

दादू स्वयं इस प्रकार विभूति या सिद्धि-प्रदर्शनके पक्षपाती नहीं थे। केवल विशेष-विशेष अवसरपर ही भक्तों और शिष्योंके मध्य वह इसका प्रकाश करते। पतिव्रताके समान एकान्त-निष्ठा और स्मरण-मनन ही इस परम भागवतका स्वभाव-धर्म था। स्वामीके साथ युक्त होनेसे ही तो उनके सभी ऐश्वर्य करतलगत हो जाते हैं—दादूकी वाणीमें यही सुर स्फुरित हुआ है—

निमित्त हरि भजै
भगति निमित्त हरि सोई।
सेवा निमित्त साईं भजै
सदा सजीवनि होई॥
हिरदै राम रहै जा जनके
ताकौं उना कौन कहै।
अठसिधि नवनिधि ताके आगे
सम्मुख ठाढ़ी सदा रहै॥

अर्थात् किसी उद्देश्यसे हरि-भजन करना हो तो भक्तिके उद्देश्यसे ही भजन करना चाहिए। सेवाके उद्देश्यसे स्वामीको भजनेसे जीवन सदा सार्थक सिद्ध होता है। जिसके हृदयमें राम अधिष्ठित हैं, उसे कौन छोटा कह सकता है? अष्टसिद्धि नवनिधि सब कुछ उस भक्तके सम्मुख सदा आज्ञावहके समान खड़े रहते हैं।

दादू कहते हैं—'योग समाधि सुख सुरतिसे सहजैं सहजैं आर।' एक ओर योग-समाधिका साधन-पक्ष और आनन्द-सुरति; इन्हींके मध्यवर्ती सहज-पथका दादूने प्रधानतया अनुसरण किया। किन्तु यह महाप्रेमी क्या योग-साधनाकी पूर्णतया अवहेलना करते थे? उनकी एक विशिष्ट वाणीमें इसका प्रकाश पड़ता है—'हे दादू! सबद (शब्द) हुई सूई, प्रेम ध्यान हुई तागा, इस कायाको ही बनाया अपनी कन्था। योगी लोग युग-युग इसी कन्थाका परिधान करते हैं, यह कभी भी छिन्न नहीं होती।'

दादू उस समय अम्बरमें वास कर रहे थे। उनके चारों ओर मुमुक्षु हिन्दू-मुसलमान साधकोंकी भीड़ लगी रहती थी। एक मरमी सिद्ध पुरुषके रूपमें उस समय सारे उत्तर भारतमें उनकी ख्याति फैल चुकी थी। यह खबर सम्राट् अकबरके कानोंमें भी पहुँचते देर न लगी। साधु-सन्तोंके दर्शनके उत्साही सम्राट्ने दिल्लीसे

उनके निकट दूत भेजा। दादूके निकट उपस्थित हो इस दूतने निवेदन किया—'सम्राट् आपके साथ साक्षात् करनेके बड़े अभिलाषी हैं।' भक्त दादूके निकट जैसे एक रहस्मय प्रस्ताव हो। धीर कण्ठसे उन्होंने उत्तर दिया "भाई, मैं समझ नहीं पाता कि मेरे साथ दिल्लीके बादशाहके साक्षात् करनेका क्या प्रयोजन हो सकता है? मुझे लेकर इतनी खींचातानी क्यों? मेरे लिए तो जाना सम्भव नहीं है।'

दूतके मुखसे सारी बात सुनकर सम्राट्ने उसे कहा,—'इस महा-साधकके संग इस तरहकी बातकर तुमने भला नहीं किया। तुम फिर वहाँ जाओ और उनसे निवेदन करो कि भागवत-प्रसंग-लुब्ध अकबर आपके दर्शनकी प्रार्थना करते हैं। कब और कहाँ भेंट होगी, आप दया कर बतावें।'

दादूने इस बार स्पष्ट बात कहनेमें इतस्ततः नहीं किया। कहा-'ऐश्वर्यमय दिल्ली जाकर मिलनेसे सम्राट् उन्हें ठीक तरह पहचान नहीं सकेंगे। फिर वैसे उन्हें भी कम असु-विधा नहीं होगी। उस भीड़ और आडम्बरमें अपनेको खोज पाना कठिन होगा।' अकबरने इसके उत्तरमें कहलाया—'राजधानीके मायावी वातावरणमें आपको बुलाऊँ, ऐसा मूढ़ मैं नहीं। सागरसे एक पात्र जल लाकर सागरका रूप क्या मैं देख सकूँगा? उत्तराखण्डकी एक शिला लाकर ही हिमालयकी महिमा क्या समझूँगा? मैं आपके अपने निजस्व परिवेशमें, भक्त-साधकोंके केन्द्र-स्थलमें ही आपका दर्शन करने जाता, किन्तु मेरा दुर्भाग्य है कि मैं इस देशका सम्राट् हूँ। मेरे आपके यहाँ जानेसे बावेला मच जायगा। आपकी शान्तिमें बाधा पड़ेगी और आपका साधन-स्थल भी अशान्त हो उठेगा। आप या मैं किसीको भी स्वस्ति नहीं मिलेगी।' अन्तमें स्थिर हुआ कि दादू और सम्राट् अकबरका साक्षात्कार होगा फतेहपुरसिकरीके निकट एक निर्जन प्रांतरमें।

दादू कई अन्तरंग शिष्योंके साथ सम्राट्से मिलनेको चले। रास्तेमें एक भक्त उत्साहसे भरकर कहने लगे—'इस अलखपंथी ब्रह्म-सम्प्र-दायके कार्यमें सम्राट्की सहायता पानेसे आपको कितनी सुविधा होगी। प्रचार और संगठनका कार्य कितनी शीघ्रतासे सम्पादित होगा।' दादूने गम्भीर हो उत्तर दिया,—'भाई, जिसकी प्रतिष्ठा करनेका व्रत हमने लिया है, उसके ऊपर ही पूर्णतः निर्भर रहनेका सबसे ज्यादा प्रयोजन है। इसके अलावे सोचो तो जरा, मैं ही यदि प्रभुको त्याग दूँ, मैं ही यदि उनके नामकी घोषणा और प्रतिष्ठासे विरत रहूँ, तब कौन उनकी ओर अग्रसर होगा? परम-सत्य

धीर गतिसे ही आत्म-प्रकाश करता हैं। इसके लिए राजा-रजवाड़ोंकी सहायताकी कोई आवश्यकता नहीं।"

दादूके साथ सम्राट् अकबरका धर्मालाप प्रायः चालीस दिनों तक चलता रहा। यह गाथा विशिष्ट दादू-भक्तोंके लेखोंमें सन्निविष्ट है। बादशाहका मन ज्ञान-पिपासासे भरा था। वह प्रश्न-पर प्रश्न करते। अकबरने जिज्ञासा की 'महात्मन्! मुझे बतावें, इस विश्व-ब्रह्माण्ड-सृष्टिका क्रम क्या है? अल्लाहने पहले किस वस्तुको—आकाश, वायु, जल अथवा भूमिको पैदा किया?'

दादूने सहास्य उत्तर दिया—'यह क्या सम्राट्! मेरे प्रभुको शक्तिको इस तरह सीमित क्यों कर रहे हो? सर्वशक्तिके जो आधार हैं, उनके लिए कौन आगे, कौन पीछेका प्रश्न ही क्यों उठता है?

एक सबद सब कुछ किया
ऐसा समरथ सोई।
आगे पीछें तो करै
जे बलहीना होई॥

अर्थात्, मेरे प्रभु ऐसे समर्थ हैं कि वह एक आनन्द-ध्वनिसे ही समस्त कुछकी एक साथ ही सृष्टि कर सकते हैं। आगे-पीछेकी तैयारी करनेका प्रश्न तो उसके सम्बन्धमें ही उठता है जो बलहीन हो।'

कथा-प्रसंगमें अकबरने कहा—'साधारण लोगोंके बीच एक प्रचलित धारणा है कि सन्त कबीर अपनी साधनाके द्वारा अध्यात्म-तत्त्वका जो कुछ मक्खन था, मथकर ले गये। इस कथनका अर्थ क्या है?' कबीर-द्वारा प्रचारित मरमी साधना ही दादूकी साधनाका उत्स था। यद्यपि उन्होंने अपने सामर्थ्यसे इसकी धाराको स्पष्ट और विस्तृततर किया था। अतः ये कबीरको गुरुकी तरह मानते थे। उनके प्रति इनकी श्रद्धाकी सीमा नहीं थी। किन्तु अकबरके इस प्रश्नसे सत्यनिष्ठ साधक उद्दीप्त हो उठे। उन्होंने उत्तर दिया—'यह कौन-सी बात! कोई कितने ही बड़े साधक क्यों न हों, इस भगवत्-रस-सागरको कौन उलीच कर खाली कर सका है? पक्षी अपने चंचुमें सागरका कितना भाग ले सकता है? यह केवल साम्प्रदायिक बुद्धिकी बात है, संकीर्ण चित्तकी कल्पना है। यद्यपि कबीर मेरे गुरु-स्वरूप हैं, फिर भी मैं गुरुके नाम पर अन्यायको प्रश्रय नहीं दे सकूँगा। अपने गुरुको लाठी बनाकर दूसरेका माथा फोड़ने जाना—यह तो है अपने ही गुरुका चरमतम अपमान।'

बादशाहके साथ पण्डितगण इस निरक्षर चर्मकारके ज्ञानसे विस्मित हो गये। अन्तमें उन्होंने दादूसे प्रश्न किया—'सब समझा, किन्तु दादू! इस बार स्पष्टकर बताओ—तुम्हारा शास्त्र कौन है? साधनाकी पद्धति

और मन्त्र क्या है ?' उत्तर मिला—'अपने इस काया-महलमें ही मैं नमाज पढ़ता हूँ – वहाँ कोई जन-प्राणी नहीं आ सकता। मनकी माला पर मेरा निरन्तर जप चलता है, इसीसे स्वामीका मन तुष्ट रहता है। चित्त-सागरमें मेरा स्नान और 'वजू' चलता है। फिर निर्मल अन्तरको बिछा कर अपने प्रभुकी वन्दना करता हूँ; उनके चरणोंमें अपनेको अर्पित कर देता हूँ।' पण्डितोंसे घिरे हुए सम्राट् विस्मय-विमुग्ध नयनोंसे इस सिद्ध पुरुषकी ओर देखते रहे !

जयपुरके राजा भगवन्तदासका इस समय अम्बरपर अधिकार था। राज्यके सभी विशिष्ट व्यक्ति राजाको श्रद्धा-निवेदन करते, उनसे भेंट करने आते। कोई-कोई अनुग्रह और सहाय्यकी आशासे राज-सभामें आते। राजाके कानोंमें दादूकी सुख्याति-चर्चा आती। किन्तु यह क्या ? यह भक्त साधक तो एक बार भी राजधानीमें राजासे मिलने नहीं आया। अम्बर-पतिके अभिषेकके दिन भी दादू अभिनन्दन करने नहीं गये। अपनी अन्तर-साधनामें ये डूबे हुए हैं, किसी सामाजिकताकी परवाह ही नहीं करते। किन्तु राजा भगवन्त-दास उनके इस व्यवहारको कभी भूल नहीं सके।

भारतसम्राट् अकबरके निमन्त्रण और अभ्यर्थनाके बाद जनसाधारणकी दृष्टि दादूकी ओर आकृष्ट हुई थी। एक दिन अम्बर-पति हठात् इस सुविख्यात साधकको देखने उपस्थित हो गये। राजाने प्रश्न किया—'आप कितने दिनोंसे अम्बरमें हैं ?' दादूने उत्तर दिया—'महाराज ! बहुत वर्षोंसे रहता हूँ।' भगवन्तदासने आत्माभिमानको संयतकर संक्षिप्तभावसे केवल इतना ही कहा—'कहाँ, आपको तो कभी देखा नहीं।' राजाके कथनमें जो प्रच्छन्न इंगित था, उसे समझनेमें देर नहीं हुई। किन्तु दादू सब कुछ समझकर भी चुप रहे।

दादूकी दो लड़कियाँ बड़ी हो गयी थीं। परन्तु अबतक विवाह नहीं हो सका था। सामाजिक संस्कार एवं आचार-निष्ठाका भगवन्तदास मन और प्राणसे समर्थन करते। दादूका यह उदार मतवाद और उनकी वचन-भंगी राजाको जरा भी न सुहायी। लड़कियोंको दिखाकर दादूसे राजाने पूछा कि उनके विवाहकी उम्र क्या बीत नहीं रही है ? दादूने सविनय बताया—'लड़कियोंने अध्यात्म-जीवनको ही एकान्तभावसे गले लगा लिया है, साधन-भजनमें ही वे लीन हैं। दूसरे विवाहका उपाय भी तो कहीं दिखायी नहीं पड़ता।

'जो पति बरचो कबीरजी,
सो करि बरचो निवाहि।'

कबीरने जिसे पतिरूपसे वरण किया था, कन्याओंने भी उसे

पतिरूपमें ग्रहण कर लिया है।' समाज-नियमके सम्बन्धमें सदा सजग रहनेवाले अम्बरके राजाके कानोंको यह बात अच्छी नहीं लगी।

उस दिनके साक्षात्‌के बाद भगवन्तदास चले गये। किन्तु राजाके साथ दादू-पंथियोंका विरोध जैसे बढ़ ही गया। उसके कुछ दिनोंके बाद दादूने विरक्त हो अम्बर त्याग दिया। मारवाड़, बीकानेर, कल्याणपुर प्रभृति स्थानोंमें कुछ-कुछ समयतक रह-कर वह शेषकालमें नारायणमें उपस्थित हुए।

दादूकी साधनाका पथ है सहज पन्थ। भौतिक जीवन एवं शाश्वत जीवनके बीच सहज योग-सूत्रकी स्थापना द्वारा ही इसकी परिपूर्णता और सार्थकता है। उन्होंने इसीलिये कहा है—'नदीके समान एक संग ही प्रतिदिनकी साधना और शाश्वत साधनाके भीतर अपनेको ढाल दो। व्यर्थ ही संसारके कर्त्तव्यको बाधा देकर अस्वाभाविकताका बेड़ा न खड़ा करो। एक ही संग अपनी सेवा द्वारा दोनों तीरवालोंको तृप्त करो, फिर सहज-योगके आनन्दसे उद्वेलित हो महासागरमें जाकर मिलनके आनन्दका उपभोग करो। भक्त साधकके जीवनमें नदीका धर्म और द्वैत-साधना ही विकसित हो उठे।'

किन्तु दादूके इस मतवादको उनके सभी शिष्योंने न माना। उनके बीच संसार-त्यागी साधकोंकी संख्या कम न थी। फिर दादू-पन्थी नागा संन्यासियोंकी संख्या भी प्रचुर थी। उनका प्रभाव उत्तरकालमें भारतके बहुतसे स्थानोंमें क्रमशः विस्तृत होने लगा।

भक्तोंके साधन-भजनकी सुविधाके लिए दादूने भक्ति-रसाश्रित पदोंके दो विस्तृत संग्रह-ग्रन्थोंकी रचनाका निर्देश दिया। तदनुसार उनके हिन्दू शिष्य जगन्नाथजी एवं मुसलमान शिष्य रज्जबजीने यथाक्रम 'गुणगञ्जनामा' एवं 'सर्वांगी' नामक दो भक्ति-ग्रन्थोंका संकलन किया। इनमें मरमी साधनाके पदों और संगीतका समावेश है। अन्य सम्प्रदायोंके भक्ति-साधकोंकी रचनाएँ भी इनमें सन्निविष्ट हैं।

दादूकी साधनाका मुख्य सूत्र है—ईश्वर-प्रेम और ईश्वर-विरह। उनकी दृष्टिमें यह प्रेम और विरह ही हैं चरम सत्य। कारण, मनुष्यकी आत्म-सत्ता तो परम प्रभुकी ही सृष्टि है और परम प्रभुके रस-सिञ्चनसे ही वह जीवन्त है। प्रभुके लिए भक्त जैसे रोता फिरता है—भक्तके लिए भी हमारे प्रभु वैसे ही क्या व्याकुल, विरह-विधुर नहीं? प्रियतमका प्रेमाकर्षण ही तो मानव-साधनाके रस-सागरको अविरत उद्वेलित करता रहता है।

हाँ माई,
म्हारो लागी राम वरागी,
तजा नहीं जाई।

प्रेम विथा करत उर अन्तर,
बिसरि सुख नहीं पाई ॥
जोगिन ह्वै फिरूँगी विदेश,
जिउ की तपन मिटाई ।
दादूको स्वामी है रे उदासी,
घर सुख रहा किमि जाई ॥

अर्थात्, मेरे लिए ही राम मेरे वैरागी हुए, इसीलिए तो उनको त्याग देना संभव नहीं। मेरा अन्तर प्रेमकी वेदनासे आर्त्त हो रहा है; उसे भूलकर तो कोई सुख नहीं पाता। योगिनी हो मैं देश-विदेशमें विचरण कर अन्तरकी आग मिटाऊँगा। ओ रे! दादूका स्वामी तो उसके लिए उदासी हो गया है, फिर किस तरह घरमें रहा जाय?

भक्त दादूकी इस प्रेम-साधनामें नाम-जपका स्थान बहुत ऊँचा है। 'मन पवना गहि सुरति सौं दादू पावा स्वाद'—मन और पवन द्वारा अर्थात् मन द्वारा प्रतिश्वास योगमें प्रेमके साथ नाम लेनेसे हे दादू, तुम अमृतका आस्वाद पाओगे। अपने इस नाम-जपके क्रमके सम्बन्धमें भी वह कह गये हैं—पहले होता है नाम-श्रवण, दूसरे उपजता है नाममें रस, तीसरे हृदयमें ध्वनित होता है नाम-गान, चौथे मन होता है मग्न, प्रति रोम-कूपमें उफनता है भक्ति और प्रेम-रस।

दादूके 'सहज-पंथ' ने भक्त और साधकके सम्मुख सहज तीर्थका पथ खोल दिया था—'सहज समर्पण सुमिरन सेवा, तिरवेनी तट संगम सपरा।' सहज आत्म-समर्पण, स्मरण और सेवाके द्वारा ही इस पुण्य-त्रिवेणीपर साधक पहुँचनेमें समर्थ होता है। कायाके मध्य कायाहीनका, सीमाके मध्य परम असीमका जो दर्शन दादूने पाया, उसका परिचय देते हुए उन्होंने बताया है—'कायाके अन्तरमें मैंने पाया त्रिकुटीका तीर। सहज ही प्रभुने अपनेको प्रकाशित किया, सर्व शरीरमें वह परिव्याप्त हो रहे। कायाके अन्तरमें ही पाया उस निराधार निराकारको, सहज ही वहाँ उन्होंने अपनेको प्रकाशित किया, मेरे स्वामी ऐसे ही समर्थ हैं। अपनी कायाके भीतर ही मैंने उपलब्धिकी उनकी असीम-अनाहत वंशी-ध्वनि की। शून्य मण्डलमें विराजित हो उन्होंने अपनेको किया सुप्रकट, कायाके अभ्यन्तर ही दर्शन किया देवोंके देवका, सहज ही अपनेको उन्होंने किया प्रकाशित—प्रभु मेरे हैं ऐसे ही अलख और अनिर्वचनीय।

इस अपरूप दिव्य धामका आभास सिद्धपुरुष दादूने एक गानमें दिया है—

राम तहाँ परगट रहे भरपूर।
आतम कमल जहाँ,
परम पुरुष तहाँ,
झिलिमिलि झिलिमिलि नूर॥
कोमल कुसुम दल,
निराकार ज्योति जल,

वार नहिं पार।
शून्य सरोवर जहाँ,
दादू हंस रहे तहाँ,
बिलसि बिलसि निजसार॥

भगवान् उसी आत्मकमलमें प्रकट होकर रहते हैं। परम पुरुष जहाँ विराजित हैं, वहीं ज्योति निरन्तर झिलमिल करती रहती है। कोमल कुसुमदल है, निराकार ज्योतिका सलिल है—शून्य सरोवर जहाँ, वहाँ नहीं है कूल-किनारा। हंस हो दादू वहाँ रहते हैं, विहार और विलाससे अपनेको वह कर देते हैं सार्थक।

मरमी साधक दादूकी आत्मानुभूतिमें एक अपूर्व प्रिय-मिलन, अपूर्व आत्मिकयोगका तत्त्व उद्भासित है—तेजःपुञ्जसे ही रचित है यह सुन्दरी जीवात्मा, और तेजःपुञ्जका ही बना है यह कान्त परमात्मा। तेजःपुञ्जके ही इस मधुर मिलनमें वसंत खिल पड़ा है, प्रेमका पुष्प सदा ही बरसता रहता है। श्री हरिके भक्तजन फाग खेलनेमें मस्त हैं। दादू! तुम्हारा यह परम सौभाग्य है जो ऐसा आनन्दरंग तुम देख रहे हो। ध्यानसे देखो—परब्रह्म वर्षण कर रहे हैं अमृतधारा, ज्योतिपुञ्ज झर रहा है झिलमिल-झिलमिल। साधकगण उसका ही पान कर रहे हैं। अनन्तकोटि धाराओंमें यह रस-वर्षण चल रहा है। दादू, वहाँ ही मनको निश्चल कर लगाये रहो, तभी तुम्हारे बीच वसंत सदा विराजित रहेगा।'

प्रेम-साधनाकी सार्थकताने दादूकी सत्ताको पूर्णकर ऊपर उठा दिया है। बहिरंग जीवन पर क्रमशः एक यवनिका गिरती जा रही है। अन्तर्लोकमें चल रहा है—अविराम आनन्द-रसपान। किन्तु इस अनुभूतिको दूसरोंको समझानेका मन ही उनका अब कहाँ रहा?

'गूँगेका गुड़का कहूँ मन जानत है थाई, राम रसाईन पीवता सो सुख कह्या न जाई।'

अर्थात्, यह जैसे गूँगेका गुड़ खाना है। वह क्या बोले? केवल मन-ही-मन उसका स्वाद जानता है। उसी प्रकार राम-रसामृत पान करनेका जो आनन्द है, वह तो कहा नहीं जा सकता।

दादू आजकल कुछ मौन-से हो गये हैं। भक्तप्रवर वाजिद खाँने एक दिन उनपर अभियोग लगाते हुए कहा—'आप पहले भक्त और मुमुक्षु साधकोंका कितना साथ देते थे; उनको लेकर कितनी आनन्द-चर्चा चलाते थे। इस समय केवल भगवान्को लेकर आप दिन-रात मग्न रहते हैं। भगवान्के बनाये हुए मनुष्योंका क्या कोई मूल्य ही नहीं?' उत्तरमें दादूने कहा—'निश्चय ही है भाई! मनुष्य सच्चे रूपमें

जो पाना चाहता है, वह उसे भगवान्‌के माध्यमसे ही पाता होगा। परम-प्रभुके मध्य ही तो सब विधृत हैं। इसीसे उसके भीतरसे देखना ही तो यथार्थ देखना है, उसे पाना ही तो यथार्थ पाना है—

देव निरञ्जन पूजिये
सब आया इस माहिं।
डाल पात फल फूल सब
दादू न्यारे नाहिं॥

अर्थात् 'देव निरंजनकी ही पूजा करो, तभी सब उसके संग-संग उसके भीतर आ जायेंगे। डाल-पात, फल-फूल सब कुछ ही उसी मूल द्वारा विधृत हैं, यह सारा वस्तु-प्रसार मूलसे भिन्न कुछ भी नहीं है।'

मनके गोपन मणि-कोठामें प्रेम-मय स्वामीके साथ दादूका रास-रंग और अनिर्वचनीय लीला-विलास सदा ही चलता है। श्यामसुन्दर वनमाली आज दादूके मनमाली रूपमें अवतीर्ण हैं। परमभक्तकी अध्यात्म-सत्तामें उपवनकी रचनाकर पुण्याकीर्ण आँगनमें परम प्रभु आज क्या मधुर खेल खेल रहे हैं—

मोहन माली सहजि समानाँ
कै जान साधु सुजानाँ।
काया बाड़ी माँ हैं
माली तहाँ रास बनाया॥
सेवक सौं स्वामी-पेलन कौं
आप दया करि आया।
बाहरि भितरि सब निरंतरि
सबमें रह्या समाई॥
परगट गुपत-गुपत पुनि परगट
अविगत लख्या न जाई॥

मोहन माली मेरे अन्दरके सहज लोकको परिपूर्ण कर रहे हैं। केवल साधु सुजान ही इसे जानते हैं। काया-उद्यानके बीच बासकर मालीने वहाँ रास रचाया है। सेवकके साथ खेल करनेके लिए मेरे स्वामी आप ही दया कर वहाँ आ गये।

अन्तर्कुञ्जमें रासका यह रस-माधुर्य, यह परम-अमृत त्याग देना क्या दादू चाहेंगे? इसीसे उन्होंने अपनी आकुल आकांक्षा हृदयनाथको ज्ञापित की—

'जुगि-जुगि तारन हार
जुगि-जुगि दरशन देखिये,
जुगि-जुगि मंगलचार
जुगि-जुगि जादू गाइये।'

अर्थात् युग-युगमें वही हैं तारणकर्ता, युग-युगमें उनका ही दर्शन होता है, युग-युगमें उनका ही मंगलाचार चलता है, युग-युगमें दादू उनका स्तव-गान करता है। अद्वैतज्ञानसे परम भागवत दादूको कोई प्रयोजन नहीं—युग-युगमें वह परम प्रभुको दयित रूपमें ही पाना चाहते हैं, उनके प्रेम-रसका आस्वादन कर कृतार्थ होना चाहते हैं। चीनीके होनेका उन्हें प्रयोजन नहीं, चीनीको खानेके वे चिर-अभिलाषी हैं। भक्तप्राणकी यह परम

आकांक्षा दादूकी वाणीमें व्यक्त हुई है।

प्रेम पियाला नूरका
आसिक भरि दीया।
दादू दर दिदार मैं
मतवाला कीया॥
दादू अमली मिका
रस बिन रह्या न जाई।
पलक एक पीव नहीं
तलफि तलफि मरि जाई॥
दादू राता रामका
पीव प्रेम अघाई।
मतवाला दीदारका
माँगे मुकुति बलाई॥

अर्थात्, ज्योतिके प्रेम-प्यालासे प्रभुने आशिकको पूर्ण कर दिया। दादूको प्रियतमने दर्शन दे मतवाला कर दिया। दादूको रामका नशा चढ़ गया। इस रसके बिना उसका बचना कठिन है। एक पलक यदि वह इस रसका पान न करे तो छटपटा कर उसे मरना होगा। दादू रामके प्रेमसे रंग गया है। दिन-रात वही प्रेमरस पीकर वह तृप्त रहता है। अरे! जो रामके रूप-माधुर्यसे मतवाला हो चुका है, वह क्यों मुक्तिका झमेला खोजता फिरे?

रसोज्ज्वल साधनाका दीर्घ पथ पारकर दादू जीवनके अन्तिम कालमें आ पहुँचे। राजस्थानके छोटेसे जनपद-नारायणामें इस समय वह बास कर रहे हैं। महा-समाधिका परम लग्न उपस्थित हो गया है। साधकोंको भी यह मालूम था। इस समयमें न केवल उनके अनुरक्त भक्त और शिष्य-गण ही उपस्थित थे, बल्कि अनेक उच्चकोटिके साधु भी हठात् वहाँ उपस्थित हो गये। भक्त दादू भक्तिकी महिमा बढ़ानेके लिए शेष समयमें हर्षोत्फुल्ल कण्ठसे बोल उठे—

दादू मम सिर मोटे भाग
साधूका दर्शन किया।
कहा करै जम काल
राम रसाईन भरि पिया॥

'कैसा महान् मेरा सौभाग्य! इन साधुओंका दर्शन इस समय पाया, राम-रसायनका पान किया, अब काल-यम मेरा क्या करेंगे?'

१६०३ खष्टाब्द, ज्येष्ठ मास, कृष्णाष्टमी, शनिवार—प्रेमिक साधक दादू शरीर त्यागकर गोलोक चले गये। उस समय उनका वयक्रम था उनसठ वर्ष। नारायणामें आज भी दादूकी 'गद्दी' परम श्रद्धासे पूजित होती है। उनके ग्रन्थके सम्मुख देश-देशान्तरके साधक भक्ति-आप्लुत अन्तरसे अपनी प्रणति अर्पित करते हैं।

●

गुरु नानक

बड़ी पुरानी है यह बात, भूल न सकती मानव जात।
कोई गीत नहीं गाता था, छंद नहीं बोला जाता था।
प्रश्न गद्य में, उत्तर गद्य, कहीं गर्भ में था तब पद्य।
घटी एक घटना पुरजोर, बीती रात हुई जब भोर।
पक्षी एक प्रिया के संग, तमसा तीरे भरा उमंग।
खेल रहा था, झूम रहा था, चोंच-चोंच से चूम रहा था।
दोनों मिले हुए एक अंग, जैसे रति के साथ अनंग।
खोयी छैली-खोया छैला, कितनी पावन थी यह बेला।
आह ! कहाँ से आया तीर, लोहित खग का हुआ शरीर।
सिकता श्वेत हो गयी लाल, छि: ! मानव इतना चांडाल।
देख अहेरी की नादानी, रोयी सरिता, रोया पानी।
मादा शोकाकुल बैठी थी, चोंच पटक रोदन करती थी।
तमसा एक ओर बहती थी, ऋषि वाणी बुद बुद करती थी।
पंछी चला गया उस लोक, फूटा कवि का पहला श्लोक।

मा निषादप्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

इस घटना को छोड़ो मीत, जीती हिंसा हारी प्रीत।
प्रजा सो रही थी सुख नींद, रोज दिवाली रोज थी ईद।
शिवि नरेश का था दरबार, राजा बाँट रहा था प्यार।
एक कबूतर उड़ता आया, मौत के डर से था घबड़ाया।
उसके पीछे बाज पड़ा था, सचमुच संकट बहुत बड़ा था।
गिरा कबूतर शिवि की गोद, राजा ने ले लिया समोद।
तभी डपट कर बोला बाज, यह अधर्म है तेरे राज।
यह कपोत मेरा आहार, अगर तुम्हें है इससे प्यार।
तो फिर बोलो मैं क्या खाऊँ, इसे छोड़कर तुझे चबाऊँ?
शिवि ने कहा सुनो हे बाज, अब तो शरण गहे की लाज।
मैं अपना तन काट रहा हूँ, बोटी-बोटी बाँट रहा हूँ।
इसे छोड़ दो मुझको खाओ, सरस्वती बोली कवि गाओ।

चन्द्रशेखर मिश्र

सिवि दधीचि हरिचन्द नरेसू।
सहे धर्म हित कोटि कलेसू॥

यह घटना थी ऐसी मीत, हिंसा हारी जीती प्रीत।
पर इसको भी छोड़ो यार, बीते वर्ष हजार-हजार।
एक था लड़का नानक नाम, कुछ ऐसा कर बैठा काम।
वाल्मीकि, शिवि आये याद, हम सब हैं उसकी औलाद।
कहा पिता ने खेत रखाओ, बेटा नानक जल्दी जाओ।
फूली फसलें महक रही थीं, चिड़ियाँ उन पर चहक रही थीं।
बाल-बाल गदरायी कैसे, चिड़ियाँ इन पर आयीं कैसे।
नभ से पंछी उतर रहे हैं, कहीं बालियाँ कुतर रहे हैं।
कोई बाँट रहा है चारा, चोंच से उसने उसे दुलारा।
चोंच के ऊपर चोंच पड़ी है, चोंच के भीतर चोंच पड़ी है।
लाजवाब कोकिल गाता है, मोर थिरक कर रह जाता है।
बोल रहा 'पी कहाँ' पपिहरा, उड़ी टिटिहिरी उड़ा टिटिहरा।
चकवा के संग चकई भूली, गेदुरी डाल पकड़ कर झूली।
फैलाये नभ में निज डैना, उड़े जा रहे तोता-मैना।
दूर-दूर से आये पंछी, नाचे-कूदे गाये पंछी।
इन चिड़ियों को पत्थर मारूँ, या यह सुन्दर दृश्य निहारूँ।
ना ना यह तो बड़ा पाप है, बड़ा पाप है बड़ा पाप है।
सरस्वती रसना पर आयी, फिर यह वाणी पड़ी सुनायी।

राम दी चिड़ियाँ राम दा खेत।
खालो चिड़ियाँ भर-भर पेट॥

अब वे पंछी भटक रहे हैं, चोंच भूमि पर पटक रहे हैं।
बाल्मीकि ना शिवि ना नानक, तीनों क्या हो गये अचानक।
बीते आज पाँच सौ वर्ष, सोच रहा है भारतवर्ष।
इन चिड़ियों पर फिर है खतरा, संत नहीं क्यों अब तक उतरा।
शायद वह जरूर आयेगा, तब फिर कोई कवि गायेगा।

क्या मुन्नियाँ क्या लाल इनको कोई न मारे।
अपनी अपनी डाल बैठहिं पंख पसारे॥

चमार कौन है ?

मधईपुरके श्री अविनाशीजी महाराज अवधूत वेषमें विचरण करते हुए रेवा तटकी एक राजधानीमें पहुँचे। वहाँके राजोद्यानमें जाकर मार्गमें बैठ गये। अपने परिकरके साथ राजा साहब प्रातः कालीन परिभ्रमण करनेके लिए आये। उनके परिकरमें बहुतसे लोग थे। उन्होंने बाबासे पूछा—'तुम कौन हो ?' बाबाने कहा—'मैं तुम लोगोंको क्या दीखता हूँ ?' वे बोले—'आप मनुष्य दीखते हैं।'

बाबाने कहा—'तुम चमार हो।' इस पर वे लोग बहुत रुष्ट हुए। गाली-गलौच की। कुछ मार-पीटके बाद पुलिसके साथ थानेमें भेज दिया। बाबाने थानेदारके साथ भी उद्दण्ड बर्ताव किया। इस पर न्यायाधीशके सामने उपस्थित किया गया। न्यायाधीशने पूछा—'तुमने राजा और उसके परिकरको चमार क्यों कहा ?' बाबा बोले—'जो चामको पहचाने, सो चमार। वे लोग आत्मा, ब्रह्म, जीव, ईश्वर—कुछ नहीं पहचानते हैं, केवल चर्म-मूलक जाति जानते हैं; इसलिए मैंने उन्हें चमार कहा।' न्यायाधीशने प्रणाम करके कहा—'आप कोई ज्ञानी महापुरुष जान पड़ते हैं। आप यह सब क्या कर रहे हैं ?'

बाबाने कहा—'मेरे एक मित्र साधु यहीं जेलमें कष्ट पा रहे हैं, उनसे मिलना है।' न्यायाधीशने कहा—'आप यह सब उपद्रव मत कीजिये। राजाको अपराधी क्यों बनाते हैं ? मैं आपके मित्र साधुको राजासे कह कर मुक्त करा देता हूँ।' वह साधु मुक्त कर दिया गया।

महात्माके द्वारा किये हुए उपद्रवमें भी किसी-न-किसीका हित अन्तर्हित रहता है।

•

महाराजश्रीके कुछ पत्र

सप्रेम नारायण-स्मरण

: १ :

• हिन्दू कौन हैं ?

मुझे स्मरण है अबसे कम-से-कम चालीस वर्ष पहलेकी बात। इन्दौरके होलकरनरेशने एक विदेशी महिलासे विवाह किया था। संकेश्वर करवीर पीठाधिपति जगद्गुरु शंकराचार्यने उस महिलाकी शुद्धि करवायी थी और उन्हींकी देख-रेखमें वह विवाह-संस्कार भी सम्पन्न हुआ था। इस घटनासे उस समयके सनातनधर्मी जगत् में खलबली मच गयी थी। होलकर तो एक ओर छूट गये। शंकराचार्यपर जनता टूट पड़ी।

काशीसे विद्वानोंका एक प्रतिनिधि-मण्डल उनके पास गया। मुझे सब प्रतिनिधियोंका नाम स्मरण नहीं है। परन्तु उनमें महामहोपाध्याय पं० श्री लक्ष्मण शास्त्री द्राविड़, महामहोपाध्याय श्री भाऊ शास्त्री बझे, पण्डितराज राजेश्वर शास्त्री आदि उच्चकोटिके विश्वविश्रुत पण्डित-प्रकाण्ड निश्चित रूपसे थे। शंकराचार्यसे शास्त्रार्थके समय यह प्रश्न मुख्य रहा कि 'हिन्दू कौन है ?' श्रुति-स्मृतिके वचन बोलकर हिन्दुत्वकी परिभाषा करना सरल नहीं था, क्योंकि पहली बात तो यह है कि प्राचीन धर्मग्रन्थोंमें 'हिन्दू' शब्द उपलब्ध ही नहीं होता। दूसरे, जिन 'कालिका पुराण', 'मेरुतन्त्र' प्रभृति कुछ ग्रन्थोंमें इस शब्दका प्रयोग किया गया है, वहाँ लक्ष्यावगाही विद्वन्मनोज्ञ लक्षणकी उपलब्धि नहीं होती। उस शास्त्रार्थमें इस विषयपर गम्भीर विचार किया गया। यदि केवल भारतवासीको ही हिन्दू कहा जाय तो यहाँ रहनेवाले ईसाई, मुसलमान, यहूदी, पारसी आदिमें अतिव्याप्ति होती है और विदेशमें जाकर रहनेवाले हिन्दुओंमें अव्याप्ति हो जाती। यदि भारतीय आचार्यके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायके अनुयायीको हिन्दू कहा जाय तो एक विदेशी महिलाको हिन्दूधर्ममें दीक्षित कर लिया जाय तो उसको

हिन्दू माननेमें क्या आपत्ति है ? इसपर काशीके विद्वानोंने जिस लक्षणका निर्माण किया था, वह कुछ इस ढंगका था। 'मूलपरम्परातो भारतीयत्वे सति भारतीयाचार्यप्रवर्तितसम्प्रदायानुयायित्वं हिन्दुत्वम्' जो मूल परम्परासे भारतीय हो और भारतीय आचार्यके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायका अनुयायी हो, वह हिन्दू है। मूलपरम्परासे भारतीय कहनेका अभिप्राय यह है कि विदेशी न हो। भारतीय आचार्यके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायका अनुयायी हो यह कहनेका अभिप्राय है कि वह जरयुस्त, ईसा, या मोहम्मद आदि विदेशी आचार्योंका अनुयायी न हो। 'हिन्दू' की यह परिभाषा बनानेपर एक तो मजहबियोंसे 'हिन्दू' का असाधारण लक्षण भी बन गया। जो भारतीय छल-बलसे दूसरे मजहबमें सम्मिलित हो गये हैं, वे वस्तुतः हिन्दू ही हैं और उनकी शुद्धि तो हो ही सकती है।

सर्वान् बलकृतानर्थान् अकृतान् मनुरब्रवीत्।

यहाँ विशेषरूपसे आपका ध्यान इस ओर खींचना चाहता हूँ कि उस शास्त्रार्थमें 'जो वेद-शास्त्रका अनुयायी है, वह हिन्दू है'—यह लक्षण क्यों नहीं बनाया गया ? यदि ऐसा लक्षण माना जाता तो जैन, बौद्ध, और सिक्खोंका अन्तर्भाव हिन्दुओंमें नहीं होता; क्योंकि वे हिन्दू हैं परन्तु अपने-अपने भारतीय आचार्यके द्वारा प्रवर्तित मर्यादाओंको ही मानते हैं, वेद-शास्त्रोक्त मर्यादाको नहीं। यह कौन कह सकता है कि भारतमें प्रचलित सब सम्प्रदाय वेद-शास्त्रोक्त ही हैं ? क्या स्मार्त और वैष्णवका भेद नहीं है ? क्या कबीरपन्थी, रैदासी, चरणदासी हिन्दू नहीं हैं ? इसलिए भारतीय आचार्यका अनुयायी कहनेसे लक्षण पूरा हो जाता है। हमारे सनातनी आचार्योंमें भी यह पद्धति रही है कि वे अपने सम्प्रदायको पूर्ण वैदिक और दूसरे सम्प्रदायको वेद-विरुद्ध बतलाते हैं। ऐसी स्थितिमें महर्षि भरद्वाजका यह धर्म-लक्षण भी सुसंगत है कि 'महापुरुषके आदेशानुसार प्रवृत्ति ही धर्म है।'

वर्तमान परिस्थितिमें राजनीतिक दृष्टिसे विदेशी विद्वानोंके मतका अनुयायी होनेपर भी यदि कोई उनके मजहबका अनुसरण नहीं करता तो वह भी हिन्दू ही रहेगा। दृष्टिमें-से संकीर्णताकी निवृत्ति सर्वथा इष्ट है। छोटी-छोटी बातोंको लेकर हिन्दू-समाजको छिन्न-भिन्न करनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिए।

आप स्वयं इस विषयके मर्मज्ञ हैं।

टिप्पणी :—श्री शंकराचार्य और विद्वानोंके शास्त्रार्थके सम्बन्धमें किसीके पास तत्कालीन प्रकाशित या अप्रकाशित सामग्री हो तो हमारे पास भेज दें। अग्रिम धन्यवाद।—सम्पादक

: २ :

• शास्त्रका कोई अंश निकाल देना पाप है

आपका अभिप्राय सद्भावसे युक्त है। आप चाहते हैं कि 'शास्त्रों'में जो 'नियोग' आदिके विषय आते हैं, वे निकाल दिये जायँ।'

मैं आपके इस मतसे सहमत नहीं हूँ। सृष्टिका जीवन दीर्घकालव्यापी है। इसमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी घटनाएँ घटित होती रहती हैं। इतिहास पुनरावृत्ति करता है। परशुरामके द्वारा क्षत्रिय-जातिका बध किये जाने-पर जैसी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी थी, कालकी विशाल धारामें वैसी परिस्थितिका आना पुनः सम्भव है। विश्वके विशाल विस्तारमें इस प्रकारकी प्रवृत्तियाँ भी हैं और वे शास्त्रके द्वारा मर्यादित होनी चाहिए। शास्त्र केवल ब्राह्मणों अथवा द्विजातियोंके लिए ही नहीं हैं, वे सम्पूर्ण मानव जातिको नियन्त्रित करते हैं। इसलिए किसी देशमें, किसी कालमें, और मनुष्य जातिके किसी वर्गमें वैसे विधानकी आवश्यकता हो सकती है। क्या आपको द्विजेतर जातियों और गिरि-वन-वासियों तथा हरिजनोंकी भिन्न-भिन्न जातियोंमें प्रचलित प्रथाओंका पता है? उनका नियमन भी शास्त्र ही करते हैं। आप शास्त्रोंको केवल चौके-चूल्हेकी वस्तु क्यों समझते हैं? उन्हें व्यापक और उदार दृष्टिसे देखिये। सारे शास्त्र केवल यज्ञोपवीतधारियोंके लिए ही नहीं हैं। वे सनातन हैं, सार्वभौम हैं और सार्वजनिक हैं। उनको काट-पीटकर संकीर्ण बनाना उचित नहीं है।

अब एक संस्मरण सुनिये। काशीके गौड़वंशावतंश वैदिकशिरोमणि महामहोपाध्याय पण्डित श्री प्रभुदत्तजी अग्निहोत्री धर्मानुसन्धान और अनुष्ठान—दोनोंमें ही सनातनधर्मियोंके अग्रणी थे। उनके पुत्र महामहो-पाध्याय पं० श्री विद्याधर गौड़ वैदिक वैदुष्यमें अपने समयके सर्वश्रेष्ठ धर्मज्ञोंमें-से एक थे। मुझे इन दोनोंसे मिलनेका अवसर प्राप्त हुआ था। एक बार श्री विद्याधरजीसे किसीने प्रश्न किया—'यदि महाभारतमें-से नियोगके प्रकरण निकाल दिये जायँ तो कैसा रहेगा?' इसके उत्तरमें

उन्होंने कहा था और लिखित व्यवस्था दी थी कि 'कोई भी प्रकरण निकाल देनेपर ग्रन्थ पूरा नहीं रहेगा, अधूरा हो जायगा। ऐसी स्थितिमें यदि कोई सम्पूर्ण ग्रन्थके पाठ या श्रवणका संकल्प लेकर बैठेगा तो सम्पूर्ण पाठ या श्रवण न होनेके कारण अदृष्टकी उत्पत्ति नहीं होगी और वह अपने पुण्यफलसे वञ्चित हो जायगा। इसलिए प्राचीन ग्रन्थोंसे चाहे वे वेद हों या ऋषिप्रणीत। कोई अंश निकालना अनुचित है।'

मेरा विश्वास है कि गौड़जीके सुयोग्य पुत्र वेदाचार्य श्री वेणीरामशर्माके पास इस विषयकी कोई लिखित व्यवस्था अवश्य होगी। वे यदि उसे प्रकाशित करा दें, तो लोगोंका बड़ा लाभ होगा।

हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि जो लोग केवल अपने साम्प्रदायिक, जातीय, प्रान्तीय अथवा पारिवारिक आचार-विचारकी सीमाके अन्तर्गत आनेवाले शास्त्रोंको ही शास्त्र मानना चाहते हैं, वे उनके शाश्वत, सार्वभौम एवं सार्वजनिक रूपको छिन्न-विच्छिन्न करनेके अपराधी हैं। उन्हें न तो शास्त्रोंका कोई अंश निकालना चाहिए, और न तो पण्डितोंको रुपया देकर अर्थ ही बदलवाना चाहिए। शास्त्रोंका अंग-भंग करना ऐतिहासिक सत्यके साथ घोर अन्याय है। यदि अपनी बुद्धिसे उनकी संगति न लगती हो तो विद्वानोंसे समझ लेना चाहिए। देश-भेद, परम्परा-भेद, अधिकारी-भेदकी व्यवस्था रहते शास्त्रोंके साथ अन्याय करना पाप है।

: ३ :

• सबको नमस्कार कीजिये

आपके गाँवमें कोई साधु आये और वे कह गये कि 'जो मेरे सम्प्रदायका न हो और मेरे जैसी वेषभूषा धारण न करता हो, उसको नमस्कार नहीं करना। जो हमारे जैसा नहीं है, वह तो शूद्र है।'

इस उपदेशमें कोई यथार्थता नहीं है। किसीको शूद्र कहनेसे जिसको कहा गया, केवल उसका ही तिरस्कार नहीं है। समग्र शूद्रवर्णका ही तिरस्कार है। किसीका भी तिरस्कार करना उचित नहीं है। साधुकी दृष्टिसे पहली बात तो यह कि सब अपना आत्मा ही है। दूसरी बात यह है कि सब भगवान् है। तीसरी बात यह है कि सबसे उपराम रहना चाहिए। चौथी बात यह है कि सबके प्रति समदर्शी होना चाहिए। सबसे बड़ी बात यह है कि विनय और शिष्टाचारका परित्याग कभी नहीं करना चाहिए।

साधुओंके एक-दो विभागको छोड़कर बाकी सबमें चारों वर्णोंका सन्निवेश है। वैष्णव, शैव, शाक्त सब साधु ही हैं। आपको सबमें भगवद्भाव रखकर सबको नमस्कार एवं सबका सत्कार करना चाहिए। श्रीमद्भागवतमें कुत्ते एवं गधेमें भगवद्भाव करके नमस्कार करनेका विधान है। जो किसी साधुको शूद्र कहकर तिरस्कार करते हैं, उनकी मनोवृत्ति संकीर्ण है और वे किसी-न-किसी अभिमानसे ग्रस्त हैं। उनका भी आदर-सत्कार करना चाहिए, परन्तु आदेश-उपदेश नहीं मानना चाहिए।

मैं जब पहले-पहल संन्यासी होकर गंगातटपर आया तब मेरे मनमें एक इसी प्रकारकी दुविधा उत्पन्न हुई थी। मुझसे कह दिया गया था कि किसी ब्राह्मणेतरको प्रणाम नहीं करना। मैंने एकान्तमें श्री उड़िया-बाबाजी महाराजसे प्रश्न किया कि इसके सम्बन्धमें क्या करना चाहिए ? उन्होंने कहा—'विनय, नमस्कार अपना सद्‌गुण है। वह सर्वदा अपने अन्दर रहना चाहिए और प्रकट भी होना चाहिए। वह किसके प्रति अभिव्यक्त हो रहा है, इससे क्या प्रयोजन ?'

इस सम्बन्धमें मेरा यह कहना है कि आप अपने सद्‌गुणको सीमित और संकीर्ण मत बनाइये, उसे उदार होने दीजिये।

: ४ :

• आप हिन्दू ही हैं

प्रिय डाक्टर साहब !

आपका पत्र मिला। आप विदेशी वेषभूषामें किसी आचार्यका दर्शन करने गये और उन्होंने आपको डाँट-फटकारकर कह दिया कि 'अब तुम हिन्दू नहीं हो'—इससे आपको दुःख नहीं मानना चाहिए। उनका तात्पर्य केवल स्वदेशी वेषभूषाके आदरमें ही होगा—ऐसा मैं समझता हूँ। आपको हैटकी जगह पगड़ी और पैंट-पतलूनकी जगह धोती पहननेमें असुविधा होती है, वह तो कुछ दिनोंके अभ्याससे दूर हो जायगी। सुविधा-असुविधा तो अभ्यास-अनभ्याससे ही बन जाती है।

अब जो आपको यह ग्लानि रहती है कि 'मैं इतने दिनोंतक हिन्दुत्वके विरुद्ध आचरण करनेके कारण हिन्दू नहीं रहा'—इसको आप सर्वथा अपने मनसे निकाल दीजिये। किसी भी आचार्यके विरोधसे

किसी भी मूलतः भारतीयका हिन्दुत्व नष्ट नहीं होता। स्वयं आदि-शंकराचार्य भगवान्ने कपिल, पतञ्जलि, शाण्डिल्य, सौगत एवं दिगम्बरोंके मतका खण्डन किया है तो क्या वे हिन्दू आचार्य नहीं रहे? श्री रामानुजाचार्य, श्री मध्वाचार्य, श्री भास्कराचार्य आदिने शंकराचार्यके मतका खण्डन किया है तो क्या उनका हिन्दुत्व निवृत्त हो गया? वस्तुतः अभारतीय आचार्यका अनुयायी होना हिन्दुत्वके विपरीत पड़ता है, परन्तु वहाँ भी हिन्दुत्वकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती। अकामकृत पतनका प्रायश्चित्त भी हो सकता है। हमारे आदरणीय शंकरपीठाधिपतियोंमें-से एक आचार्य अमेरिका आदि समुद्र पारके देशोंमें चले गये थे। इसपर दूसरे पीठाधिपतियों एवं विद्वानोंने उनका बड़ा विरोध किया था। इससे क्या उनके हिन्दुत्व या आचार्यत्वपर आँच आयी थी? दो आचार्य परस्पर जब मुकद्दमे लड़ते हैं, कई-कई पीढ़ीतक और वर्षोंतक; पीठाधिपति होनेका निर्णय नहीं हो पाता तो क्या उनकी प्रामाणिकता संशयास्पद नहीं हो जाती। पुराणोंमें भी कितने ही प्रसंग ऐसे आते हैं जिनमें शैव-वैष्णव परस्पर एक दूसरेपर आक्षेप करते हैं, नारकी बताते हैं, द्वेष-हिंसा तकका उपदेश करते हैं तो क्या उनकी बात प्रामाणिक है। हम अवश्य ही उसका अभिप्राय यह लगाते हैं कि उनका वैसा कथन इष्ट-निष्ठाको दृढ़ करनेके लिए है, किसीको च्युत करनेके लिए नहीं। मीमांसा-शास्त्रका 'न हि निन्दान्याय' विद्वानोंमें प्रसिद्ध है। स्मार्त और वैष्णवोंके मतभेद लोक-प्रसिद्ध हैं। वैष्णव परा-एकादशीको ही मानते हैं। स्मार्त त्रयोदशीमें पारणकी निन्दा करते हैं। वे दशमीके स्पर्शसे नहीं डरते। अब यदि कोई स्मार्ताभिमानी कहे कि स्मार्त ही हिन्दू है वैष्णव नहीं और वैष्णवाभिमानी कहे कि वैष्णव ही हिन्दू है स्मार्त नहीं तो यह कथन हिन्दू-समाजके लिए कितना घातक होगा। हमारे साधु-सम्प्रदायोंकी यही गतिविधि रही तो कुछ दिन बाद ये ऐसा कहने लगेंगे कि 'जो हमारा चेला है वही हिन्दू है।' इसलिए आप अपने हिन्दुत्वके नाशको ग्लानि छोड़ दीजिये। बौद्ध, जैन, सिक्ख, स्मार्त, वैष्णव, रैदासी, कबीरपन्थी आदि सभी हिन्दू हैं; क्योंकि वे भारतीय आचार्यके द्वारा प्रवर्तित आचार्यके अनुयायी और मूलतः भारतीय हैं। आचार अपने-अपने पन्थके अनुसार होता है। उससे राष्ट्रीयतामें कोई बाधा नहीं पड़ती। आप बम्बईमें मिलनेपर और बातें पूछ सकते हैं।

मानव और बौद्धधर्म

पं० श्रीजगन्नाथ उपाध्याय
अध्यक्ष : पालि बौद्ध-दर्शनविभाग, संस्कृत विश्वविद्यालय–वाराणसी

★

इतिहासमें भगवान् बुद्धके अतिरिक्त कोई दूसरा महापुरुष नहीं दीखता, जिसने मनुष्यका अन्यनिरपेक्ष महत्त्व स्वीकार किया हो। उपनिषदोंमें आत्माकी व्यापकताका प्रतिपादन मिलता है; किन्तु उस आत्माकी तर्क और व्यवहारसे परीक्षा नहीं की जा सकती। बुद्धसे पहले या बादमें महाभारत-रामायण आदिमें भी यत्र-तत्र मनुष्य-जीवनका महत्त्व वर्णित है; किन्तु कहीं भी उसकी पूर्ण स्वतन्त्रताको नहीं माना गया। बुद्धने पहली बार इस तथ्यको प्रकाशित किया कि सारी सृष्टिका केन्द्र-बिन्दु मनुष्य है। अपने शुभ-अशुभ कर्मोंके द्वारा मनुष्य ही अपना और इस संसारका विधाता है।

व्यक्ति या समाजकी अच्छाई या बुराईके लिए मनुष्य दूसरी किसी भी शक्तिकी कृपा एवं अवकृपापर निर्भर नहीं है।

इसके लिए उसे किसी अन्यकी शरण जानेकी जरूरत नहीं है। वह स्वयंमें 'अनन्यशरण' है अथवा 'आत्मशरण' है। मनुष्य जैसे देव, ईश्वर और महेश्वरादिसे स्वतन्त्र है, वैसे ही परम्परागत शास्त्र एवं धर्मोंसे भी बंधा हुआ नहीं है।

उसे कर्त्तव्यनिर्णयके लिए अपने विवेक और परीक्षणको ही अन्तिम प्रमाण मानना होगा।

विषम परिस्थितियोंमें भी उसे मार्गनिर्णयके लिए सदा ही प्रकाशकी गवेषणा करनी होगी और स्वयंको 'आत्मदीप' बनाना होगा। बुद्धने कहा—धर्म मनुष्यका सहायक है; किन्तु वह कोलोपम है (धम्मं कोलूपमं विजानोहि)। वह उस बेड़ेके समान है, जिसे नदी-पार करनेके बाद छोड़ दिया जाता है, उसे सिरपर ढोया नहीं जाता। बुद्धने अपने अनुयायियोंको बार-बार चेतावनी दी कि मेरी किसी बातको मेरे गौरवके कारण

न मानो, प्रत्युत सुवर्णकी भाँति अनुभव और तर्ककी कसौटीपर उसकी सच्चाईकी पूरी परीक्षा करो।

बुद्ध अपने अनुभवकी सच्चाईका दावा करते हैं; किन्तु दूसरेके अनुभवका भी महत्त्व स्वीकार करते हैं।

बुद्ध अपने अनुयायियोंके गुरु हैं, किन्तु मित्रके अर्थमें। वे जगत्के कल्याणमित्र हैं। मनुष्योंके कल्याणके लिए सद्धर्मका परामर्श-मात्र देते हैं।

किसी प्रकारका गुरुडम खड़ा नहीं करते।

सभी प्रकारसे बुद्ध मनुष्यकी विचारशक्तिको गौरव प्रदान करते हैं और जगत्के उन सभी सद्विचारोंको अपना ही विचार माननेके लिए तैयार हैं, जो अनुभवके द्वारा परीक्षित हों तथा जिनका उद्देश्य बहुजनकल्याण हो—'यत् सुभाषितं तद् बुद्धभाषितम्।'

इन सम्पूर्ण विचारोंके पीछे बुद्धकी एक दार्शनिक मान्यता है, जिससे उनके पूर्ववर्ती एवं परवर्ती सभी नित्यवादी एवं भौतिकवादी विचारोंका खण्डन होता है। वह है—प्रतीत्यसमुत्पादका सिद्धान्त। बुद्धसे जब यह पूछा गया कि सन्देह होनेपर इस बातका निर्णय कैसे किया जाय कि कौन-सा वचन बुद्धवचन है? तो उन्होंने निर्णय दिया कि वे सभी बुद्धवचन समझे जायँ, जो 'प्रतीत्यसमुत्पाद' सिद्धान्तके विरोधी नहीं हैं। प्रतीत्यसमुत्पादका सिद्धान्त बुद्धकी जीवनदृष्टिका मानदण्ड है। प्रतीत्य-समुत्पाद कार्यकारणभाव का अटूट सिद्धान्त है। जो विभिन्न परिस्थितियोंमें लागू होता है। इस सिद्धान्तसे दो बातें प्रतिफलित होती हैं। एक यह है कि जगत्की सारी अनर्थ परम्पराओंका कारण मनुष्यका अज्ञान या मिथ्यादृष्टि है और उसकी समाप्ति वह अपने ज्ञान एवं सम्यग्दृष्टिसे कर सकता है। दूसरी यह कि सृष्टिके किसी कार्यका कारण नित्य या स्थिर तत्त्व नहीं होता, बल्कि अनित्य एवं परिवर्तनशील कारण एक दूसरेकी अपेक्षाकर किसी अच्छी या बुरी घटनाको या वस्तुको उत्पन्न करते हैं।

वास्तवमें जो प्रतीत्य-समुत्पादको समझता है, वह धर्मको समझता है। उन्होंने कहा—'यो पटिच्चसमुप्पादं पस्सति सो धम्मं पस्सति'।

वास्तवमें तत्त्वकी सत्ता नित्य होती ही नहीं।

इस दार्शनिक सिद्धान्तसे आचारसम्बन्धी भी दो निष्कर्ष निकलते हैं। एक यह कि अपनेको

और जगत्को अच्छा बनानेका एकमात्र उत्तरदायित्व मनुष्यको अपने ऊपर लेना चाहिए। दूसरा यह कि उसे कार्यान्वित करनेके लिए दूसरोंका सहयोग लेना चाहिए और परिस्थितियोंको उस लक्ष्यके अनुकूल बनाना चाहिए।

बुद्धके पहले मनुष्यकी सारी समस्याएँ उपेक्षित होकर अविवेचित-सी पड़ी हुई थीं। विचारक लोग परम्परासे विश्वासप्राप्त तत्त्वोंके रहस्यपूर्ण विवेचनमें इतने उलझ चुके थे कि मनुष्यका वास्तविक प्रश्न अत्यन्त गौण पड़ चुका था।

विवेचक अपना ही विवेचन भूल चुका था। उसके सामने विवेच्य विषय थे ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, सर्वोत्कृष्ट विलासिता, अपरिमित भोग आदि। मनुष्यकी यथार्थता इन कल्पित मान्यताओंके हाथ बिक चुकी थी। वह अज्ञात एवं कल्पित शक्तियोंके पराधीन था।

इसलिए बुद्धने अपने समयके सभी रहस्यवादी नित्यवादी विवेचकोंकी व्यर्थता बतायी और मनुष्यकी समस्याको शास्त्रार्थका प्रधान विषय बनाया। उन्होंने ईश्वरादिके विवेचनको अन्धकारमें छोड़े गये बाणकी उपमा दी। बुद्धने विश्वव्यापी दुःखकी यथार्थताकी ओर सबका ध्यान आकृष्ट किया और आश्वासन दिया कि मनुष्य वर्तमान जीवनमें ही अपने ही यत्नोंसे दुःखका निवारण कर सकता है। उन्होंने कहा कि वास्तवमें मनुष्यकी समस्या अतिगम्भीर है—'गहनं हेतं पेस्स यदिदं मनुस्सा'। बुद्ध कहते हैं कि संसारमें जो कुछ हो रहा है, उसके पीछे मनुष्यका मन ही प्रधान कारण है—'मनोपुब्बङ्गमा धम्मा'।

बुद्ध मनुष्यके मनकी जटिलता और गम्भीरताकी ओर बार-बार ध्यान आकृष्ट करते हैं और कहते हैं कि किसी भी परिवर्तनके पहले मनुष्यको अपने मन और मान्यताओंका परिवर्तन करना होगा। अविद्या और तृष्णा उसमें प्रमुख हैं। बुद्ध कहते हैं कि ऐसा भी समय आ सकता है कि महासमुद्रोंके जलका अन्त हो जाय; किन्तु अविद्या और तृष्णासे प्रेरित एवं उसमें भटकते-फिरते मनुष्योंके दुखोंका अन्त नहीं होता। सभीसे उन्होंने बड़ी मार्मिक अपील की कि मनुष्यका यह हँसना, यह आनन्द लेना कैसा? जब उसके चारों ओर आग लगी हुई है। वे कहते हैं कि किसी आदमीके मर्मस्थलपर जहरसे भिना बाण लग जाय और उसका जीवन अब-तब हो रहा हो, उसके सगे-सम्बन्धी तीर निकालनेके लिए विषवैद्यको बुला

लावें; किन्तु वह मनुष्य यह कहे कि मैं तबतक यह तीर न निकलवाऊँगा जबतक यह न जान लूँ कि जिस आदमीने मुझे तीर मारा है, वह किस जाति, किस गोत्रका है, वह लम्बा छोटा या मध्यम कदका है—काला या गोरा वर्ण है इत्यादि। बुद्ध कहते हैं वैसी स्थितिमें इन सबका तो पता लगेगा नहीं, और वह मर्माहत व्यक्ति अनायास ही मर जायगा। आत्मा ईश्वर आदिकी शाश्वतता-अशाश्वतता आदि प्रश्न भी इसी प्रकार रहस्यपूर्ण हैं, जिनसे जीवन की यथार्थ समस्याओंका कोई हल नहीं हो सकता। इसीलिए बुद्ध मनुष्यके सम्पूर्ण जीवनका सम्बन्ध उसके मानसिक धरातलसे जोड़ते हैं। उनके मतमें मनुष्यका आचार-व्यवहार, उसका चित्त-परिष्कार और उत्कृष्टतम ज्ञान मनकी ही विभिन्न परिणतियाँ हैं। यही कारण है कि बुद्धकी दृष्टिमें शील, समाधि और प्रज्ञाके रूपमें सारा धर्मशास्त्र, मानसशास्त्र और दर्शनशास्त्र एकमात्र मनुष्य-केन्द्रित और मनुष्य-निर्णीत होना चाहिए।

बुद्धके मतानुसार उन्नत एवं सुसंस्कृत जीवनका प्रारम्भ शील हैं, मध्य समाधि है एवं परिणाम प्रज्ञा है। ये तीनों परस्पर सापेक्ष हैं। इसीलिए जो आचार मनःसंयम तथा ज्ञानके द्वारा अनुमोदित नहीं है, वह सदाचार नहीं है तथा सदाचारके द्वारा जो परीक्षित नहीं है, वह संयम एवं त्याग तथा ज्ञान नहीं है।

बौद्धदृष्टिसे जब पूछा जाता है कि मनुष्यजीवनका उद्देश्य क्या है? तो बुद्धकी यथार्थवादी दृष्टि में उसका यह उत्तर अत्यन्त सरल हो जाता है कि जब तृष्णा और दुःख मनुष्यकी मूल समस्या है तो उसका निवारण ही पुरुषार्थ है। दुःखके निवारणका उपाय सदाचार और उत्कृष्ट प्रज्ञाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह प्रज्ञा भी रहस्य नहीं है इसीलिए बुद्धने इसे 'एहिपस्सिक' एवं 'पच्चत्तं वेदितब्बं' कहा है। अर्थात् इस जीवनमें अपनी ही बुद्धिसे इस स्थितिको जाना जा सकता है।

कहाँ भटकते हो 'आओ और स्वयं देख लो।'

व्यक्तिकी दृष्टिसे जब यह प्रश्न उठता है कि तृष्णाक्षय और प्रज्ञा-लाभके अनन्तर जीवनका कोई अन्य लक्ष्य है या नहीं? तो बुद्धके स्वयं घटित जीवनसे ही इसका उत्तर स्पष्ट हो जाता कि बहुजनका हित एवं सुख साधित करना ही जीवनका अन्तिम लक्ष्य है। बोधि-लाभ कर लेनेके बाद मारके पुनः आक्रमणसे बुद्धके मनमें जब अव-

साद उत्पन्न हुआ तो उनके समक्ष इसी प्रकारका प्रश्न उठा था, किन्तु उन्होंने जब विचार किया और सृष्टिकी अनन्तानन्त दुखी जनताके आर्तनादकी ओर ध्यान दिया तो केवल अपने लिए ही निर्वाणका आनन्द उठाना उन्हें नीरस एवं तुच्छ मालूम पड़ने लगा। फलतः उन्होंने बहुजनके हित और सुखका महान् व्रत लिया तथा उसके लिए उन्होंने अपने सद्धर्मचक्रका प्रवर्तन किया। इस घटनासे मानवीय इतिहासमें एक नया अध्याय जुटा, जिसके पीछे एक महान् मानवीय तत्त्व था—करुणा। करुणासे आप्लुत चित्त समस्त जगत्के प्रति अपरिमित मैत्री करता है। आगे चलकर बौद्ध-जीवनमें इस करुणाका महाकरुणाके रूपमें महान् विकास हुआ जिसमें मनुष्यका महत्त्व अपने चरम उत्कर्षपर पहुँचा। इससे यह तथ्य प्रमाणित हो सका कि मनुष्यके सम्पूर्ण नैतिक और आध्यात्मिक जीवनका उत्स प्रज्ञा और करुणा ही है। जो आचार या विचार करुणा और प्रज्ञासे अनुमोदित नहीं हैं, वह धर्म नहीं है। वास्तवमें बुद्धके इस महान् प्रयाससे मनुष्यको वह मार्ग मिल सका, जिससे वह अपनेको सभी आरोपित मान्यताओंसे मुक्त कर ले और अपने ही अनुभवों और भावनाओंको प्रामाणिकताके आधारपर समाजमें अपनी सर्जनशीलताको चरितार्थ कर सके।

किन्तु बुद्धके द्वारा अन्वेषित मनुष्यके इस आध्यात्मिक एवं नैतिक गौरवका वर्चस्व उस विषमतापूर्ण समाजमें प्रतिफलित नहीं हो सकता था जो बुद्धके सामने था। इसलिए उन्होंने उन सभी सामाजिक मान्यताओंका खुलकर विरोध किया जो मनुष्यकी नैतिक और आध्यात्मिक समता एवं स्वतन्त्रताकी विरोधी थीं। इसके लिए उन्होंने जातिविशेष, कुलविशेष, लिङ्गविशेष, भाषाविशेष, क्षेत्रविशेषकी पवित्रता एवं उच्चता सम्बन्धी कल्पित एवं क्षुद्र मान्यताओंकी खुली भर्त्सना की।

और तार्किक दृष्टिसे उन शाश्वतवादी सभी मिथ्यादृष्टियोंका खण्डन किया जो शताब्दियोंसे समाज और धर्ममें रूढ़ हो चुकी थीं। इस नवीन धर्मकी चरितार्थताके लिए 'संघ' का निर्माण किया गया, जिसके सभी द्वार मानवमात्रके प्रवेशके लिए खुले हुए थे।

इस विराट् आन्दोलनके फलस्वरूप भारतीय समाजमें पहली बार शिक्षा, चिकित्सा, धर्म तथा आध्यात्मिक साधना आदिके लिए बिना किसी प्रकारका भेद किये

सभी स्त्री, पुरुष, शूद्र, अन्त्यज, चाण्डाल, वेश्या, नट एवं अनेकानेक प्रकारके वनवासियोंको अव्याहत अधिकार प्राप्त हुआ।

यही कारण है कि बौद्धधर्म उत्तरोत्तर एक देशसे दूसरे देशमें फैलता चला गया और बादमें विश्व-मानव-धर्म बन सका।

●

आहारमें न्याय-दृष्टि

बात ही बातमें गोमाताकी चर्चा चल गयी। मोकलपुरके बाबाका कहना था कि गो-संवर्द्धनको वाणी विलासकी वस्तु नहीं बनाना चाहिए। जिन देशोंमें गायको माता नहीं माना जाता, वहाँ इतनी गो-सेवा होती है कि देखकर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। वहाँ गायके निवास-स्थानकी स्वच्छता, उनके खान-पानकी व्यवस्था, स्वास्थ्य और दुग्ध-समृद्धि पर विशेष ध्यान दिया जाता है। गौएँ हृष्ट-पुष्ट हुआ करती हैं।

इस प्रसङ्गमें उन्होंने कहा—'गायके दूधका मुख्य अधिकारी उसका बछड़ा है। उससे बचे, तब बालक, रोगी एवं वृद्धको मिलना चाहिए। बछड़ेको कष्ट देकर प्राप्त किया दूध मनुष्यके लिए हितकारी नहीं होता। जिनके दाँत मजबूत एवं पाचनशक्ति ठीक है, उन्हें दूधके स्थान पर चनेका सेवन करना चाहिए।

ऊँचे वृक्ष पर लगनेवाले फल पक्षियोंके लिए और दूध पुत्रके लिए होता है। अन्नसे काम चले तो गव्य और फलका सेवन नहीं करना चाहिए। वे स्वयं अधिकांश किसानोंके द्वारा उगाये हुए अन्न, शाक और फलका ही उपयोग करते थे। गङ्गाजीके रेतीमें एक अमरूदका बगीचा लगाया था जिसके फल बड़े-बड़े और स्वादु होते हैं।

उन्होंने एक बार विनोद-विनोदमें कहा था कि विश्वमें केवल दो ही व्यापार हैं—एक मिट्टीसे अन्न बनाना और दूसरा, बने बनाये अन्नको मिट्टी करना। यह स्पष्ट है कि पहला व्यापार किसान करते हैं और दूसरा अन्य लोग।

●

व्रज-रस

नव रस गुने गुनीन ने, रस-मणि रस सिंगार।
मोहिं सबै फीके लगे, व्रज-रस नेक निहार॥ १॥

षट रस चाखि उदर भरै, चित अघाय नहिं जाय।
व्रज रस जस जस चाखिये, तस तस रुचि ललचाय॥ २॥

रस रस रस रस प्रेम रस, बरसत व्रज दिन रैन।
पल पल पियत अघात नहिं, प्रेम पियासे नैन॥ ३॥

पात पात सों रस चुवत, रस - प्रपात दरसात।
डार डार रस-धार सी, उमँगि उमँगि उफनात॥ ४॥

बाँकी झाँकी लाल की, तासों झाँकी जाय।
दरस - आगरी लाड़ली, जाकों दरस दिखाय॥ ५॥

श्याम-रंग-रस चित चढ़्यो, राधा को रस-रंग।
अंग अंग रस-रंग सों, सहजहिं बन्यो अनंग॥ ६॥

व्रज की हरियारी निरखि, नैनन सुख न समात।
यह हरि यारी चित हरै, हरि यारी हुइ जात॥ ७॥

आइय देखिय दरस-रस, सरस रास रस भोग।
नैन-सैन-रस, बैन-रस, मधुर बेनु—रस - योग॥ ८॥

नृत्य सरस, थिरकन सरस, चितवन सरस पियारि।
हाव भाव सद्भाव-रस, सुधि बुधि देत बिसारि॥ ९॥

खेल खेल हरि पट हरयो, धरयो कदम की डार।
चीर-हरन-मिस हृदय-पट, दीन्हें श्याम उघार॥ १०॥

आयो जगत-प्रवास पै, दूरि देश निज राखि।
निज निवास-रस पाइये, व्रज-निवास-रस चाखि॥ ११॥

—रामाश्रय दीक्षित

प्रारब्धवाद : समाजवाद

श्री सुदर्शनसिंह 'चक्र'

'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः ।'

कर्मका मूल अर्थात् पूर्व-सञ्चित कर्म होनेसे उसके परिणाम-स्वरूप जीवको जाति, आयु और भोग प्राप्त होते हैं।

जाति—यह जीव स्त्री-पुरुष, मनुष्य-पशु-पक्षी, कीट-वृक्ष-लतादि किस योनिमें उत्पन्न होगा।

आयु—प्राणी कितनी लम्बाई तक श्वास ले सकेगा। यहाँ स्पष्ट कर देना है कि प्राणीकी आयु वर्षोंमें वर्णित करना केवल सामान्य स्थूल गणना है। ठीक-ठीक आयुका निश्चय करनेके लिए श्वासोंकी संख्या भी पर्याप्त नहीं है। श्वासोंकी लम्बाई निश्चित करना आवश्यक है। योगी, प्राणायाम करनेवालेकी श्वास-संख्या तथा श्वासोंकी लम्बाई घट जाती है, फलतः उनकी आयु बढ़ जाती है। क्रोध, काम आदिके आवेशमें, दौड़ने तथा श्रम करनेसे श्वास लम्बी चलती है, अधिक चलती है, तब आयु घटती है।

भोग—इसके सम्बन्धमें ही सब विवाद है। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा—

'हानि-लाभ, जीवन-मरन, जस-अपजस विधि हाथ।'

इसमेंसे 'जीवन-मरण' तो आयुके अन्तर्गत आ गये। अब भोगमें 'हानि-लाभ' अर्थात् पदार्थ-पशु आदिका मिलना और उनकी हानि तथा स्वजनोंका संयोग-वियोग। इसके साथ समाजमें व्यक्तिका यश और अपयश ये प्रारब्धानुसार होते हैं।

एक बात इससे स्पष्ट हो जाती है कि व्यक्तिको सुख या दुःख देना प्रारब्धके वशमें नहीं है। केवल सुख-दुःखके निमित्त हानि-लाभ, संयोग-वियोग, यश-अपयश प्रारब्ध उपस्थित कर सकता है। क्योंकि समस्त आध्यात्मिक साधनोंका लक्ष्य जीवनसे दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति है। यदि सुख-दुःख देनेमें प्रारब्धको हेतु माना जायगा तो सब शास्त्र एवं साधन व्यर्थ होंगे।

अब देखना यह चाहिए कि व्यक्तिको सुख किन रूपोंमें प्राप्त होता है। ये रूप निम्न है—

१. प्राणी एवं पदार्थके उपयोगका सुख।

२. अहंकारका सुख—मेरे पास इतने भवन, धन, ऐसे स्वजन आदि हैं। अथवा मुझमें इतनी कला, विद्या, तपस्यादि है।

३. मनोराज्यका सुख—स्वप्नमें अथवा जागते हुए कल्पना करके सुखी होना।

४. अभ्यासका सुख—जैसे नित्य व्यायाम करनेवालेको व्यायाम कर लेनेपर होता है।

५. प्रमादज सुख—नींदमें, ताश आदि खेलनेमें मिलनेवाला सुख।

६. शान्तिका सुख—ध्यानमें, समाधिमें या निश्चिन्ततामें होनेवाला।

७. धर्मका सुख—दया, दान, त्यागादिमें मिलनेवाला सुख।

इनमेंसे शान्तिका सुख, प्रमादज सुख, अभ्यासज सुख, मनोराज्यका सुख, और धर्मका सुख ये पाँच सर्वथा वैयक्तिक हैं। इन पर वाह्य पदार्थके होने न होने, परिस्थिति आदिका प्रभाव बहुत कम पड़ता है। ये चारों ही व्यक्तिके पुरुषार्थ तन्त्र हैं।

बात पदार्थज सुख एवं अहंकारज सुखपर आकर अटकती है। क्योंकि इन दोनोंका समाजके साथ घनिष्ट सम्बन्ध है।

दो 'अति' के मध्य आज हमारा समाज विभक्त हो गया है। समाजवाद-साम्यवादके समर्थक जड़वादी कहते हैं—'प्रारब्धवाद पूँजीपतियों तथा उनके पालित समर्थकोंका ढकोसला है। यह निर्धनोंको दबाये रखनेके लिए खड़ा किया गया है।'

दूसरी ओर आस्तिकोंका जो वर्ग पुनर्जन्ममें विश्वास करता है, वह कहना मानता है—'प्रारब्धका विधान अटल है। प्रारब्धने ही कंगाल, करोड़पति बनाये हैं। इस विधानको बदला नहीं जा सकता।'

ये दोनों ही बातें अतिवादिता हैं ओर तथ्यसे बहुत दूर हैं। तथ्यको समझनेके लिए एक-दो और उदाहरण आवश्यक हैं।

आजसे कुछ ही सौ वर्ष पूर्व पृथ्वीके प्रायः सभी देशोंमें दास-प्रथा थी। मनुष्योंको पशुओंकी भाँति बाजारोंमें बेचा-खरीदा जाता था। उन्हें पशुओंकी भाँति बाँधकर रखा जाता था और हण्टर मार-मारकर उनसे काम लिया जाता था। अब भी दो-एक देशोंमें मनुष्य-विक्रयके बाजार चोरी-छिपे चलते हैं।

लगभग पूरे संसारमें आन्दोलन हुआ और गुलामी-प्रथा समाप्त हो गयी। तब प्रश्न उठता है कि पहले मनुष्योंमें लाखों लोगोंका प्रारब्ध गुलाम होकर बिकता था और अब वैसा प्रारब्ध बनना ही बन्द हो गया?

दूसरी बात लीजिये। एक ज्योतिषी एक करोड़पतिको अर्थलाभके योग देखकर उसे कई लाखका लाभ बतलाता है; किन्तु ठीक वैसे ही अर्थलाभके योग एक मजदूरके हों तो उसे कुछ थोड़े रुपये मिलनेकी बात कहता है। यह अन्तर ग्रहोंका है या सामाजिक परिस्थितिका?

प्रारब्धवादका विरोध करनेवालोंमें अनेक पूछते हैं—'आज रूसके अधिकांश भागमें प्रायः भोजन, वस्त्र, आवास, चिकित्सा, शिक्षाकी सुविधा सबको उपलब्ध हो गयी है। तब इन सुविधाओंसे वञ्चित रहनेका प्रारब्ध क्या भारतके लोगोंका ही है?'

सचमुच यह प्रश्न टाल देने योग्य नहीं है। लेकिन इस प्रश्नसे प्रारब्धवादका सिद्धान्त खण्डित होता है, ऐसी भी कोई बात नहीं है। सच बात यह है कि जैसे अकर्मण्य लोग अपना पुरुषार्थ त्यागकर 'जो भाग्यमें होगा, हो जायगा' कहने लगते हैं, वैसे ही समाजकी समस्त त्रुटियोंको प्रारब्ध-विधान मान लेनेकी भूल पुनर्जन्मपर आस्था करने वालोंने बहुत लम्बे समयसे कर ली है। यह समझनेका प्रयत्न ही नहीं किया गया कि प्रारब्धका क्षेत्र कहाँ सीमित होता है।

'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणञ्च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चात्र पञ्चमम्॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥'

—गीता

उचित या अनुचित जो भी कर्म मनुष्य शरीर, मन या वाणीसे प्रारम्भ करता है, उसमें पाँच कारण होते हैं—१. अधिष्ठान २. कर्ता ३. उपकरण ४. अनेक प्रकारकी चेष्टा ५. प्रारब्ध।

इन पाँचोंमें-से केवल प्रारब्धकी रट लगाना व्यर्थ है। इसी प्रकार अकेले कर्ताके पुरुषार्थकी रट भी व्यर्थ है। कर्ता सावधान और सम्पन्न हो तो उपकरण तथा अनेक चेष्टाओंको वह अपने अनुकूल बना लेता है। लेकिन अधिष्ठान अर्थात् कर्मकी आधार-भूमि—सामाजिक व्यवस्था एवं स्थितिका भी महत्त्व 'दैव' जितना ही है, इस पर बहुत कम या प्रायः नहीं ही ध्यान दिया जाता।

व्यक्तिके सम्बन्धमें जो महत्त्व पुरुषार्थको प्राप्त है, समष्टिमें वही महत्त्व समाज-व्यवस्थाका है। अतः प्रारब्धकी चर्चाके समय समाज-व्यवस्थाकी सदोषताको छोड़ा नहीं जाना चाहिए।

प्रारब्ध भोगके उपकरण उपस्थित कर सकता है। इसका अर्थ है कि प्रारब्ध प्राणि-पदार्थके मिलन-वियोग, यश-अयशमें सम्पूर्ण रूपसे हेतु हैं और इनके द्वारा जो सुख-दुःख मिलता है, वह प्रारब्धसे मिलता है।

सामने परसी थालीका अन्त मुखमें जायगा या नहीं जायगा, यह बात प्रारब्ध पर निर्भर है। आपको रहनेको मकान समाजसे मिला, उस मकानमें आप रह सकेंगे या नहीं, प्रारब्ध पर निर्भर है।

विवाद समाजवादका है अहंकार-जन्य सुखसे। अहंकारजन्य सुख 'भोग' है, यह माननेकी भूल प्रारब्धवादियोंने की है। कला, विद्यादिके द्वारा यश-अयश रूप सुख-दुःख मिलता है। इसमें प्रारब्ध हेतु है, यह बात तो ठीक; किन्तु एक व्यक्तिके पास दस-बीस भवन हैं या कई लाख रुपये हैं। इनके अपने पास होनेके अहंकारका जो सुख है, यह 'भोग' केवल इसलिए है कि अकर्मण्य व्यक्तिका समाज अकर्मण्य है और उसने अपनी इस त्रुटिको दूर नहीं किया है।

जिस पदार्थ-पैसे या प्राणियोंका हम उपयोग नहीं कर पाते, उनका हमारे पास संग्रह है तो यह समाजकी त्रुटि है। यह ऐसी ही त्रुटि है, जैसी गुलाम-प्रथाके समय थी। जैसे जागृत मानव-समाजने गुलामोंकी गुलामीको प्रारब्धकी विवशता नहीं स्वीकार किया, वैसे ही आजके जागृत समाजको पूँजी एवं पदार्थोंके संग्रहका व्यक्तिका असीम अधिकार नहीं स्वीकर करना चाहिए। गुलाम-प्रथाके समाप्त होनेसे यदि प्रारब्धका सिद्धान्त अक्षुण्ण रहा है तो पूँजीवादके समाप्त होने पर भी वह अक्षुण्ण ही रहेगा।

संग्रहका अहंकार जो मनमें सुख उत्पन्न करता है, वह भोग है या नहीं?

यह प्रश्न एक मित्रने किया। पदार्थका होना भोग नहीं है। पदार्थका उपयोग भी भोग नहीं है। पदार्थ तो संसारमें बहुत हैं। बहुतसे पदार्थ आपके भवनमें या आपके कमरेमें भी हैं। मैं आपके कमरेमें एक वस्त्र रख आऊँ और आपको पता न हो कि वह आपके लिए है तो उस वस्त्रका भोग आपको नहीं प्राप्त होता। पदार्थके अभाव या उपलब्धिका बोध भोग है। इस अभाव या उपलब्धिसे सुख-दुःखका होना—न होना प्रारब्धके

हाथमें नहीं है। पदार्थके अभाव या उपलब्धिमें भी साधक समभाव रख सकता है। प्रारब्धके वशमें केवल पदार्थके अभाव या उपलब्धिका बोध करा देना है। इस प्रकार 'भोग' बाहर नहीं, मनमें होता है।

इतने भवन, इतने धन, इतने जनोंका आधिपत्य मुझे प्राप्त है, यह अहंकार है। इसे शुद्ध भोग कह पाना कठिन है। अहंकारके निर्माण एवं अहंकारके निर्मूलनमें व्यक्तिका स्वातन्त्र्य है। इसी स्वातन्त्र्यके कारण—

'कर्ताऽस्मीति निबध्यते'

कर्तृत्वका अहंकार होनेके कारण जीव बन्धनमें पड़ता है और—

'यस्य नाहं कृतेर्भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यति।
हत्वाऽपि स इमांल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥'

—गीता

जहाँ व्यक्तिका स्वातन्त्र्य है, वहाँ समाजका भी स्वातन्त्र्य है। अपने स्वातन्त्र्यके क्षेत्रमें जैसे व्यक्ति भूलें करता है—अधिकांश लोग भूलें ही करते हैं; क्योंकि वे अज्ञानी हैं, ज्ञानी तो गिने चुने लोग हैं, वैसे ही अपने स्वातन्त्र्यके क्षेत्रमें समाज भी भूलें करता है और प्रायः करता ही रहता है; क्योंकि समाज भी अज्ञानी जनोंका ही है। समाजका नियमन, सञ्चालन ज्ञानियोंके हाथमें नहीं है।

लेकिन व्यक्ति हो या समाज, उसे जब भी अपनी भूल समझमें आ जाय, उसे किन्हीं सिद्धान्तोंका नाम लेकर पुष्ट किया जाना उचित नहीं है। उसे दूर किया जाना चाहिए। उसे दूर करनेके लिए होनेवाले प्रयत्नोंका स्वागत किया जाना चाहिए।

समाजका दोष—समाजकी त्रुटि है कि समाजके अधिकांश लोगोंको भरपूर भोजन नहीं मिलता, उनके शरीरपर फटे वस्त्र हैं, उन्हें गन्दी झोपड़ियोंमें रहना पड़ता है और शिक्षा-चिकित्साकी उन्हें सुविधा उपलब्ध नहीं तथा दूसरी ओर एक वर्ण बड़ी-बड़ी भू-भवन सम्पत्तियोंका स्वामी है। भारी पूँजी उसने रोक रखी है। उपभोगके पदार्थोंको वह मनमाना नष्ट करता है। इस दोषको प्रबुद्ध समाज न सहे, उचित है। इसमें प्रारब्धकी बाधा ही नहीं है। समाजको इसे दूर करना ही चाहिए।

श्री सत् गुर प्रसाद

भक्तप्रवर श्रीकोकिल साइं

(१८)

—बापू राम भद्र दे विनय पत्रिका—

करहुँ कृपा करुणानिधे श्रीरघुवर वददानी।
वैदेह्यल जी बलभरी दे अँमृत बानी ॥१॥
थकी अ साँ थोरो करे माखे रुचि दे रहमानी।
कीअँ रीधे रहिमत भरिया विसिरियइ उहा वाणी ॥२॥
ओखीअ असहाय खे इहो क्षन दानु दिजाँइ दानी।
आनन्दकन्द अबल तूँ करि मालिक महर्बानी ॥३॥
बुढ़िड़ो थियुसि जोभनु वियो, कुछु कयुमि न जानी।
दुख दोलावा दोझिरा दिठमि नंढिड़े नादानी ॥४॥
दासु निबलु थियो निर्मल ! हाणे तूँ थीउ बलबानी।
गुण गावाँ त्रपति न थियाँ इहा दातर दे दानी ॥५॥
व्रज वनमें अचे घरु कढ़ियुमि खान ! छद्दे खानी।
वाञ्छिति वरु न मिलियो अजाँ कयुमि सर्वसु कुलबानी ॥६॥
दाढनि खों दाढो आहीं तुँहिजे दरि तोबँह तानी।
मालिक थी मजबूरु माँ, तुँहिजे पेशि पयसि आनी ॥७॥
अजबु रंग आहिनि सदा, तुँहिजा साहिब सुबहानी।
कदीं वाली थियें वेझिड़ो, कदीं दूरि थियें दिलिजानी ॥८॥
हिकु रस थी हलियो अचें, सजग सुख खानी।
परवर तो पेरे पई, थियाँ वैदेहलि बान्ही ॥९॥
अगितों जी सुधि नांहिका, अलाए छा लिखि लासानी।
केदें वञाँ कंहि खे चवाँ, बी ठोर नाहे बान्ही ॥१०॥
दुखियो दींहुँ न जेसीं अचे, देसिक जी सहिदानी।
रहिमत भरी रुचि दे, थियाँ केशव कुलिबानो ॥११॥
गयी बहोड़ि विरिदु दिसी, थीउ सदिड़निमें साणी।
सदिड़ा करे साहिब सचा, मुँहिजी काया कूमाणी ॥१२॥
दरिड़े ते आयसि धणी, वर रीअ वेगाणी।
मोगी एँ माँदी घणी, दे हर्षु सुखनिखाणी ॥१३॥

दानी शिरोमणि दयानिधि, तूँ कोमलु कुसुमाणी।
पकोड़ा खारायाँ प्यार साँ, भरियाँ प्यारल जो पाणी ॥१४॥
अगे हीअंर अगिते अबा, करि भगतनि मन भाणी।
तुँहिजे झोलीअ झझी अ माँ, सभु भगत भरनि पाणी ॥१५॥
विपतिग्रस्तु बालकु दिसी तूँ आँसुनि झर आणीं।
पिता जीअं प्रफुल्ल थियें, दिसी दासनि खुशि खुवानी ॥१६॥
हाणे लालन तोखे भी लगी, कलऊ जी कानी।
निबलनि खे तूँ बलु दिएँ निथावनि थानी ॥१७॥
गरीबि साँ गदिजी भरियाँ जौंक साँ जिंदगानी।
बापू तूँ बालिणि संदो, बियो दरु नाहे दानी ॥१८॥
बाँह देई मिठा बाबला, रखो अमन अमानी।
चातक चखियुनि खे सदा दिनि प्रेमानन्द पाणी ॥१९॥
भूनन्दन पद पद्ममें, रहूँ भँवर भुलानी।
किरोड़ कल्प ताईं, आशाकजि पूर्ण परधानी ॥२०॥
उत्कंठा अजीबु थी, गरीबि श्रीखण्डि गानी।
स्वीकृत कजि साईं सचा, जीअं विदुर सागु मानी ॥२१॥

श्रीकोकिल साईं स्नेह-मग्न चितसे बापू श्रीरामचन्द्रके श्रीचरणोंमें विनय पत्र लिखते हैं। हे करुणानिधान बापू श्रीरघुनाथ साईं! हे महादानी! आप उदार- चूड़ामणि हैं क्योंकि—

सुसमय दिन द्वै निशान सबके द्वार बाजे।
कुसमय दशरथके दानि द्वै गरीब निवाजे॥

आप सब जीवों पर कृपा करनेवाले हैं, हम पर भी यह कृपा कीजिये कि श्रीविदेहनन्दिनी स्वामिनीके सुयशकी सुधा-मधुर वाणी जो प्रेम-शक्ति-उत्साह-उमंगसे पूर्ण है वह मुझे प्रदान करो। विरहकी गह्वर-गलियोंमें विचरती-विचरती व्याकुलताके भारसे बहुत थक गयी हूँ। मुझ थकी हुई पर अनुग्रह कर मुझे इस अलौकिक रुचिका दान दो कि—मिले हुए भी मिलनेकी प्याससे हृदय भरा रहे। हे कृपामूर्ति प्रभो! पहले किस प्रकार रीझते थे जो कोई भी पुकारता था उसकी पुकार सुन दुःख दूर करते थे। भुजा उठाकर कहा था कि—

"सब विधि दीन मलीन हीन मति
जाँको कतहुँ नहिं ठाउँ।
आये शरण भजउ न तजउ............॥"

वह कृपामयी बानी अथवा कृपा मयीबान क्या अब भुला दी। वे कृपासे भरे हुए दिवस कहाँ गये नाथ !

इस कठिन कलिकालके समयमें मुझ असहाय बालिकाको अपनी कृपाका दान दो। हे दानी-शिरोमणि ! आप आनन्दके बादल हैं, आप हमारे प्यारे बाबा हैं (पिता हैं) हे मेहरबान मालिक ! मुझपर अपनी महिरकी वर्षा करो।

हे नाथ ! अब तो मैं जरा-ग्रस्त हो रहा हूँ युवा-अवस्था चली गयी आपके कृपाकी राह निहारते-निहारते। हे मेरे जान ! अथवा प्राणोंके मालिक ! मैं आपकी प्रसन्नता-लाभके लिए कुछ नहीं कर सका। आपकी महानताके आगे मेरे आपसे मिलनके लिए किये हुए प्रयास नगण्य हैं। प्रभो ! आप तो शंकरके लिए भी अगम हो, देवोंके लिए दुर्लभ हो, ऋषि-मुनि भी लाखों वर्ष तपस्याकर ध्यानमें आपके दर्शनके लिए तरसते रहते हैं। वहाँ इन गरीबोंकी इस छोटेसे जीवनमें की हुई थोड़ी-सी साधना क्या मूल्य रखती है। केवल आपके कृपाका ही अवलम्ब है।

बचपनकी अनजान अवस्थासे लेकर आज तक कितने ही झंझट दुःख व दर्दोंको सहन किया। जबतक शरीरमें बल था तबतक आपकी कृपाकी आशापर चलता रहा। अब तो मैं निर्बल होकर हार गया हूँ। हे परम पावन स्वामी ! सेवक जब थक जाता है तो स्वामी अपने बलसे उठाता है। जीवका चलना तो चींटीकी तरह है और आपकी कृपा हाथीकी तरह आगे बढ़ उसे अपना लेती है।

हे दातार ! अब तो मुझे यह दान दो कि अहर्निशि आपका गुणगान करता रहूँ और उससे कभी तृप्ति न हो। हे अशरणशरण ! मुझे और कोई अभिलाषा नहीं है।

हे राजाधिराज ! मैं आपसे मिलनकी उत्कण्ठासे अधीर हो अपना देश, सुख-सम्पत्ति, मान प्रतिष्ठाका त्यागकर व्रजवन (वृन्दावन) में आकर बसा हूँ। आपने शात्रुघ्नलालको मधुपुरी भेजते समय कृपाकर कहा था—

सदां शुद्ध वृन्दावन न भू भलो है।
तहाँ नित्य मेरी निवास-स्थलो है॥

यह जानकर कि यहाँ आपकी कृपा सुलभ होगी इसलिए वृन्दावनमें आकर घर बना लिया है। किन्तु सर्वस्व न्योछावर करनेपर भी अभीष्ट वरदानकी प्राप्ति न हुई। अभी तक मुझ तरसते हुए को आपने नहीं अपनाया।

आप बड़े बेपरवाह साहब हो। आपके द्वारपर मैं बार-बार नाक रगड़कर गिड़गिड़ाता हूँ। आप कभी कमलसे भी कोमल, कभी वज्रसे भी कठोर बन जाते हो; पर कृपाकर हमारे लिये कोमल ही बने रहना।

हे बाबुल ! आपकी कृपाके बिना कोई देवी-देवता भी सहायता नहीं करता, इसलिए मजबूर हो विवश हो आपकी शरणमें आया हूँ।

हे शोभा-निधान साहब ! तुम अलबेले हो, मौजी मालिक हो, तुम्हारे आश्चर्यमयी विनोद हैं, कभी तो कृपासे द्रवित हो अपने आप बार-बार झाँकते हो और कभी पुकारनेपर भी नहीं आते—तरसाते रहते हो।

हे सुखनिधान ! अपने चिर सेवकोंसे ऐसी लुकाछिपी न कीजिये। 'दिलवर हो दिलसे दूर न रहिये', मैं यही चाहता हूँ कि—आपके अनुग्रह अनुरागकी धारा एकरस अखण्ड प्रवाहित होती रहे अथवा आप युगल-सरकारका नित्य-मिलन, विहार-विनोद, परस्पर-प्रेम, आदर सर्वदा एकरस सुखमय, रसमय, हर्ष-आनन्दमय बना रहे।

हे विश्वासपाल प्रभो ! मैं आपके चरणकमलोंमें सिर झुकाकर आपके द्वारकी देहरी चूमकर श्री विदेहनन्दनी स्वामिनी महारानीके सेवा-सान्निध्यकी याचना करती हूँ। उस सेवाका सौभाग्य कृपाकर मुझे प्रदान कीजिये।

हे लासनी ! अर्थात् अद्वितीय स्वामी ! पता नहीं मेरे भाग्यमें आपने क्या लिख रखा है। वह तो मैं नहीं जानता। जीवनमें जाने कितने उतार-चढ़ाव आते हैं इसीलिए डरता हूँ कि मेरे प्रेम-प्रवाहमें कोई रुकावट बाधा न आवे। और कहाँ जाऊँ किससे कहूँ ? मुझे तो और कोई ठौर-ठिकाना नजर नहीं आता। हे नाथ ! मेरी यही विनय है कि जबतक कोई कठिन समय न आवे उससे पहले ही रोम-रोम रग-रगमें ऐसा स्नेह-आनन्द भर दो कि जिससे कोई संसारका दुःख-दर्द मेरे हृदयको छू न सके। यदि लिखा हुआ लेख आप मिटा नहीं सकते तो अपने गाढ़ स्नेहका दान तो आप दे सकते हैं। मेरे श्वास-श्वासको स्नेहसे सराबोर कर दो। गहरी ममता व प्याससे भरी रुचि दो। आपके वनवासके कष्टों और विरहके दुखोंका चिन्तनकर मेरा हृदय उसी दुःखमें दग्ध होता रहे।

हे कृपालु केशव ! आप ऐसी अनुकम्पा कीजिये कि—उस दुःख-दर्दकी चोटसे मेरे प्राण न्योछावर हो जायें। आपका 'गयी बहोरि गरीब निवाज' विरद है। आप अपने शरणमें आये हुए सेवकोंकी आनेसे पहले व्यर्थ गयी हुई आयु भी अपने भजन-स्मरणमें गिन लेते हो। उस अपने गयी बहोरि

विरदको देखकर हमारी पुकारपर ध्यान दीजिये सहायता कीजिये। हे श्री रघुनाथ ! आप सरल-सबल साहब हो कोई एक बार भी पुकारता है तो विचार छोड़ उसकी रक्षाके लिए दौड़ पड़ते हो। जिसे अनुग्रहकर अपनाते हो उसके प्रतिकूल कोई भी बोल नहीं सकता।

हे सत्य-स्वरूप स्वामी ! पुकारते-पुकारते अब तो मैं थक गया हूँ। मेरी काया कुम्हला गयी है। विकलताकी लहरोंमें बहते-बहते शरीर बलहीन व शिथल हो गया है। अब पुकार करनेकी भी शक्ति नहीं रही। अपने इष्टके विछोहसे व्यथित हूँ! अभीष्ट-प्राप्ति करनेके लिए परेशान हो आपके द्वारपर आया हूँ।

हे सुखनिधि ! मैं मुग्ध और अतिअधीर हो रहा हूँ। मुझे कृपाकर मिलन-आनन्दका हर्ष प्रदान कीजिये।

हे दानी शिरोमणि ! हे दयानिधि ! आप प्रफुलित कमलके समान कोमल हो, आपके द्वारसे कोई भिखारी 'ना' लेकर नहीं जाता। आप किसीका भी दुःख सहन नहीं कर सकते; फिर मैं आपका सेवक होकर दुखित रहूँ यह क्या उचित है ?

हे प्यारे प्रभो ! मेरे हृदयमें आपको खिलाने-पिलानेकी अभिलाषा बनी रहती है, अब भी मैं यह थोड़ी-सी पकौड़ी लेकर आयी हूँ। कृपाकर इसे खाकर जलपान कीजिये। मैं इसी तरह आपके लिए भोजन बनाती—जल भरती रहूँ।

वेद-शास्त्रोंमें तो आपके कृपा-अनुग्रहकी अनेक गाथाएँ वर्णित हैं कि आपने कितने ही पापियोंको पावन किया कितने ही अधमोंका उद्धार किया। कितने ही अशरण जीवोंको शरणमें रखकर सुखी किया। हे भक्त-भावन ! आप अब, और आनेवाले समयमें भी अपने आश्रितोंकी मन-भायी करते रहना। यह मेरी प्रार्थना है मेरे बापू ! अपने आश्रितोंके निहोरेको न लौटाओ। मेहरबान होकर मौन मत धारण करो, यशकी पताका फहर रही है तो और उसको ऊँचा करो। जब आप कीर्ति-प्रिय हों तो कीर्ति-गान करनेवालोंका हौश बढ़ाते रहो। भला आपके भक्त चाहते ही क्या हैं ? आपके गुणगाना, आपको रिझाना आपकी सेवाकर आपका सुख पहुँचाना, आपका स्मरण, आपका ध्यान और सत्सङ्ग करना यही तो उनके मंजु मनोरथ हैं। उन्हें पूर्ण करो प्रभो ! अपनी फुलवाड़ीको आप सींचो कृपा-वारिद !

हे सन्तन-पति साईं ! आपकी कृपा प्रेममयी झोलीमें अनन्त रस और

सुखका सागर लहरा रहा है जिसमें-से अनन्त-कालसे लेकर अभी तक सभी रसिक भक्त-सन्त अपने मतिरूपी-कलश भरते रहते हैं फिर भी वह अगाध और अनन्त है। वह सर्वदा भरा ही रहेगा।

मीठे बाबा! आप अत्यन्त कृपा-कोमल हैं। किसी भी विपत्ति-ग्रस्त बालकको देखकर आपका हृदय द्रवित हो जाता है और विशाल नेत्रोंसे आँसू बहने लगते हैं और तत्काल उन्हें सुखी कर सुखी होते हो। उन्हें सुखमें सराबोर देख पिताकी तरह प्रफुल्लित होते हो कि मेरा बच्चा प्रसन्न है सुखी है।

प्रभो! क्या अब वह स्वभाव छोड़ दिया? कलियुगके कठिन समयका आपके ऊपर भी कोई प्रभाव पड़ गया क्या? किन्तु लाड़ले स्वामी! ऐसा न कीजिये निबलोंको बल देकर बलवान् करो। जिससे कालकी कुचालको पारकर जावे। जिसको कोई ठाँव-ठिकाना नहीं है उन्हें अपने श्रीचरणोंका अचल आश्रय दीजिये। आपकी मनभायी गरीबीके साथ अपनी जीवन-यात्रा सुयश-गान करते हुए कुशल-कल्याणसे व्यतीत करें।

मुझ बालिकाके आपही तो बापू हो। सत्य कहती हूँ बाबा! मेरा और कोई घर-द्वार नहीं है दशरथके दानी!

हे आजानुबाहु रघुवर! आप अपनी समर्थ भुजाका सहारा देकर मुझे निर्भय और सुखी बनाओ।

प्यारे घनश्याम रामभद्र! मेरी चातकी अखियाँ सर्वदा आपके प्रेमानन्द-रूप स्वातीकी प्यासी हैं; कृपाकर वही प्रेम-जल पिलाकर सुखी कीजिये, क्योंकि विचारे चातककी एक ही टेक है।

हे नाथ! आप ऐसा अनुग्रह कीजिये कि—श्री श्रीसाकेताधीश्वरी स्वामिनी श्रीभूनन्दिनीजीके श्रीपद-पंकजमें उन्मत्त मधुकरीकी तरह और सब कुछ भुलाकर पड़ी रहूँ।

हे साकेतनाथ स्वामी! यही मेरी चिर-मधुर अभिलाषा है कोटि-कोटि कल्पोंतक उसे पूर्ण करते रहना। श्रीस्वामिनीके चरणकमलोंमें निवास करनेकी मेरी सबसे प्रधान अभिलाषा है।

हे सच्चा साईं! गरीबि श्री खण्डिकी गायी हुई अजीब उत्कण्ठा भरी प्रार्थना-पत्रिका कृपाकर सप्रेम स्वीकार करो; जिस प्रकार विदुरका अलोना रूखा-सूखा साग व रोटी बड़े प्रेमसे खायी थी, उसी प्रकार हमारी यह भोली-भाली भाषामें कही हुई तोतली बानी भी कृपाकर अपनाइये। ●

PUBLISHED BY

Satsahitya Prakashan Trust

Vipul

28/16 Ridge Road

BOMBAY—6 (W. B.)

With best Compliments

From :

Chintamani

SATSAHITYA PRAKASHAN TRUST

ON THE OCCASION

OF

SANYAS-JAYANTI—1970

AH! HARI BABA!

By

Shri Bipin Chandra Misra

Senior Advocate, Supreme Court

This is the chorus of the voices of countless numbers who gathered at the sacred bank of the Ganges and joined with tears and sighs in the ripples of the flowing waters in mourning the involution of the body of a celebrated saint by that name. He breathed his last at Varanasi on the 4th and was brought to Anupshahar and the burial ceremony took place at Bandh Dham on the morning of Tuesday, the 6th of January and his last remains were preserved in the bowels of the earth as well as the memories of millions of his devotees and acquaintances.

Shri Hari Baba ji Maharaj was the popular name of the holy man whose original name was Daulat Ram and whose real name as a Sanyasi was Swatch prakash. He was born in the year 1884 A. D. in a village near Hoshiarpur in Punjab. The initial religious faith of his family was the Sikh Gurus as well as Rama and Krishna and they created a lasting impression on his young mind. He received education up to the Intermediate Science and joined the medical school and studied the course of Bachelor of Sciences but he did not appear in the final examination. He never married and his strong sense of inborn renunciation compelled him to leave his home, hearth, studies and the duties of a householder. However, he was well-versed in Sanskrit, Persian, English, Bengali, Urdu and Hindi and was fairly meticulous about the correctness of the grammar and the diction in all the languages and it was quite a sight on his part to see him correcting

errors and trying to discuss and construe the correct meaning of various words and phrases of the verses and other religious literature.

Shri Hari Baba ji was a most sincere earnest pilgrim on the path of Godhood and was an embodiment of hard work, relentless self-discipline and meticulous punctuality and was a sworn enemy of lethargy and laziness. He learnt many a great spiritual lesson at the feet of his Guru, Shri Swami Sachadanand ji Maharaj of Hoshiarpur and Shri Achyut Muni ji as well as Shri Paranjapai. through the hard method of toil and unflinching faith, obedience and service. He duly received instructions in practical and theoretical Vedanta as well as in the path of devotion besides yogic asanas, jap and Pranayam. However, his richest attainment was an unswerving faith in God's name, the immense value of chorus chanting of which by the congregation was specially treasured and practised by him and he derived the name Hari Baba from the God's name "Hari-Bol" which he used to sing with great zeal and gusto along with his followers who would join in symphony of loud singing. His faith consisted in treating all names of God alike and so the *dhun* of his *Kirtan* would change from day to day according to the day of the week or the occasion for auspicious gathering. On a Shivratri day and Monday it would be the Shankar's name. On Tuesdays it would be Hanuman and Ram. On Gurupurnima it would be Guru Nanak. Hanuman Chalisa was his most favoured book of prayers and was very frequently used to bring about miracles. To cure the sickness it would be *"Hanumat Veera Nashe Rog, hare sab pira"*. To combat adversity it would be *"Durgam kaj jagat ke jaite"*. To bring people on the path of righteousness it would be : *"Kumiti niwar, Sumati ke Sangi"*. To get rid of the evil spirits : *"Bhoot pishach nikat nahin awae"* and finally to obtain salvation : *"Tumre bhajan ram ko bhave; janam janam ke dukh bisrawe"*.

Although extremely wide as his outlook was the special objects of his worship and devotion were Lord Gauranga. otherwise known as Mahaprabhu Chaitanya Dev of Nawadeep

and goddess Shri Radha Rani in all her various manifestations. Radha Stotra, Radha Kripa Kataksh Vishnupriya Sahasranam were among his daily worshipful recitations and items of solace in any difficulty ever experienced by him. The mission of his life was propagation of the method of worship adopted and propagated by Shri Chaitanya Mahaprabhu and Shri Baba ji Maharaj was known very widely for his celebrating the birthday anniversary of Shri Chaitanaya (which, by the way, fell very near his own birthday) and this was performed on an extremely grand scale near about the *Holi* festival either at Bandh or at Vrindaban or on some occasions at Hoshiarpur and the renowned saints of India were invited to join the same and very often most of them would out of regard for Shri Babaji cordially respond even at considerable sacrifice of their time and comfort. It is these celebrations which brought him into close and lasting contacts with numerous holy souls, including renowned Saint Sri Uriya Babaji Maharaj and Shri Anand Mayee Mataji who became his lifelong associates. Each celebration would cost thousands of rupees and months of preparation and would end on the second or third day of Holi and he would, after settlement of the accounts, leave the place, carrying not a pie with him, nor did he ever have any funds or bank balances. Indulging in *Satsang* constantly and intensely was his passion and wherever he was present he would organise his time and his band of followers in a manner that every minute of the day (with only exception of time for food, rest and walk) would be spent in chanting, discussing or preaching, singing or playing God—His name, deeds and teachings. Sophisticated leaders and gentlemen of towns, highly placed officials, powerful princes, rich industrialists, agriculturists, and the rustic and the simple country folk along with the learned Pandits and Saints all alike who had the good fortune to witness Shri Baba at any of such functions or Satsangs never left without a lasting impression of the serenity, peace and the joy of the man and his environment.

Scores of men, women and children live to-day to tell the story of many a miracle performed or directed by him. Of the earliest the most widely known was the construction of the dam known as Bandh Dham which lies on the bank of the Ganges on the side of Badayun District, opposite Anupshahar of Bulandshahar District of U. P. where a several miles long dam was constructed long ago to save the life and property of the villagers who had been annually suffering for times immemorial on account of annual floods of the Ganges and the engineers of the Government had failed to provide relief against the inundation. Shri Baba inspired people and instilled in them faith in God's name and he himself dug the earth and planted it on the dam and in the course of time erected a several miles long dam every step of which has been consecrated by God's name : *Hare Krishna, hare Krishna, Krishna, Krishna, Hare Hare; Hare Rama, Hare Rama, Rama, Rama, Hare Hare.* The dam has stood the ravages of the river and saved the village folk and it came to be regarded as a sacred act of divinity. The dam still stands although now the Government has built another dam for the purpose. At the old dam now exists a temple for religious prayers, Dharamshala for stay of pilgrims, a small dispensary, a school and other institutions and the same is still the place of pilgrimage for hundreds of persons who pray for fulfilment of their desires. The fame of Shri Maharaj spread as the dam rose from the earth and it spread like a wild fire. Many a man, woman and child came to him for solace, blessings and miracles and many a tear and woe taken to his presence turned into a happy and peaceful smile. Numerous persons after obtaining his grace obtained employment, or were saved from the danger of ill-health, death or confinement and many a poor man became rich and many an issueless was blessed with children and at least one person has been established to have been revived to life after death with his grace. This was the mundane side of the picture but still it is incomplete without a description of many a struggling soul which through his teachings and precepts attained peace of mind or vision of the worshipped deity and eternal happiness and bliss.

Bensons/2922
Ward Norton
American diplomat.
Sets out for top-level talks.
Always looks his best in
Raymond's
suitings
Raymond's suitings — Terool, Trovine and Pure Wool
A J.K. product

The last three or four years of *Shri Baba's life* were a brave struggle against impending death and medical advice and treatment. He had started suffering from degeneration of his heart and kidnies and at least three or four times the doctors declared that his condition was critical and he may not last a few hours or days but he defied the advice of the doctors and every time the doctors had to report after some time that his condition had appreciably improved so much so that when he left Delhi for Varanasi on the 31st of December. 1969 nobody expected the end would come so soon. During the last few weeks of his illness at Delhi he took me into confidence and shared with me his rich spiritual treasures. He told me how his birth was celebrated and heralded as an incarnation brought to the earth by the prayers of his mother and the grace of God. He also told me how his Guruji, (who was perfect in the path of knowledge as well as devotion) had blessed him and imparted the essence of truth. He related in great detail how during his first singing of God's name he became unconscious and had a vision of Lord Gauranga and he established his identity with him. He also mentioned how God's holy name was extremely potent and identical with Brahama, the first principle of life and how by the use of God's name there was nothing that could not be accomplished. To illustrate how God's will works he related and incident of his early life as a Sanyasi, when some indigent person approached him requesting provision for railway fare to an up-country place. Shri Baba ji replied that he did not have any money and he did not have any acquaintances nor did he know how to beg food or money but he promised to do something for him. So he took out his handkerchief and made a small bag of it and went to the town and there said that somebody wanted money for his railway fare and the ladies and gentlemen could give him anything they pleased, and while some people put coins into his handkerchief he heard a cry of deep anguish and pain. He forgot about the collection of donation and rushed to the house where the cry came from and he found that the town had been ravaged by

plague and in that house one young man was lying with glands of plague and all members of his family had run away deserting him and he was crying apprehensive of death any moment. Shri Babaji put his hand at the place of pain and asked him to call the name of God three times. "Krishna, Krishna, Krishna", which he did and there after his plague glands disappeared and he stood up and walked away a healthy man. Shri Baba Ji then came back to the place where the indigent person was halting and told him that he had forgotten about the collections and he could have whatever was contained in the handkerchief. The man counted the coins and surprisingly found their number exactly equal to the amount of fare needed to the last anna.

Shri Babaji's special emphasis lay on self-discipline and constant and tireless *Sadhan* and progress in the path towards God and he specially stressed that one should not get easily satisfied with only a small attainment of bliss and he would illustrate this dictum with numerous parables and arguments. One of the many stories which he related created a deep impression on me. I have not verified the same but whether true or not, it certainly illustrates a very great truth worthy of our emulation. It is this : Ala Hazrat Mohammad, the great prophet of Islam, one day paid a visit to a holy man's house. The man had been out in the town. Outside the house, Ala Hazrat noticed a big slab of stone which contained a few deep depressions and the great prophet asked what they were about. He was told that he holy man used to say his prayers on that piece of stone almost constantly throughout the day and the depressions had been caused by the pressure of his forehead and knees, The prophet then went into meditation. A little while latter the holy man returned and he was very happy to see the prophet at his house and felt greatly honoured but he found that the face of the prophet was sad. He asked the prophet the cause of his sorrow. After some reluctance, the prophet replied that he had learnt about the numerous prayers which he had been making on that slab of stone and he had asked God

whether any of the prayers of the holy man had been accepted by God but God had replied that he had not accepted any of them and this was the cause of the dis appointment of the prophet. On hearing this the holy man went into ecstasy with joy and he danced with cheer. On being question by the prophet the holy man replied : "I am extremely happy to learn that great God has taken note of my humble prayers and this is enough to make me enchanted with bliss but whether or not God accepts any of them rests entirely in his discretion and pleasure and I don't have the slightest say in the matter."

Shri Babaji Maharaj was a striking personality. He was tall, fair and handsome and was a monument of modesty and humility and would not hesitate to perform *Shashtang Pranam* to quite an ordinary good person. Whoever met him for the first time was most deeply struck by the impression that he was divine, who was always engaged in divine work and who had no time to stand or Stare or talk of anything except God in his manifold manifestations and who could never tolerate any decrying of any man, faith or thing whether agreeable or disagreeable. He was not only modest but extremely charitable in his thought, word and deed. He constantly aspired and attempted to live a divinely virtuous life of one attuned to the Supreme Spirit; and he never exhibited any un-Godly or mean emotion or thought. His one great desire was that persons should join in body and soul in praise of God and attain Godhood with all his divine attributes now and here in this life and there by cement a bond of life between them. His manners were disarming and his expressions charming and when he opened his thin lips lightly and softly, the words flowing from him had a ring of earnest and sincere appeal from the innermost recesses of his heart; and the same was so effective that very few either had the will or the discretion to say no to him and so he was held in the greatest esteem by every holy man and good person in the country who chanced to come in his contact.

Shri Hari Baba Ji in his mortal frame is no longer with us and we all cry in mourning and anguish for his stately sight—to see him again in flesh and blood—but we forget that he was regarded by many as an *Avtar* or one of the manifestations of God Himself who walked on this earth for our benefit shedding luster and peace all around. And he himself used to say that anybody who has God's name on his tongue or mind or heart is verily not different from God and all the virtues of God would undoubtedly manifest themselves through the body, mind and soul of such a devotee. He tried to live what he preached : and he has left for us a lesson to emulate his example and attain God-hood in the shortest possible time in the present life and to shun evil deeds and evil thought counting no amount of sacrifice. Numerous volumes can be written about the teachings he imparted, the deeds he did and the impressions he created on those who ever came near him and it is not possible to even attempt to enumerate them here.

I shall, however, close by reminding to myself and my readers that "Death is not a foe but an inevitable adventure and the Gods have concealed from man the happiness of death so that they may endure life". "Death to a good man is but passing through a dark entry out of one little dusky room of his father's house into another that is fair and large, lightsome and glorious and divinely entertaining".

Gentlemen, "living is death; dying is life : on this side of the grave we are exiles, on that, citizens. On this side, captives; on that free men; on this side disguised, unknown; on that disclosed and proclaimed as the sons of God". Socrates declared : "Be of good cheer about death and know this of a truth that no evil can happen to a good man either in life or after death". There is but this difference between the death of old man and the young that old men go to death and death comes to the young. "We should, therefore, celebrate the funeral of a good man", declared plutarch, "not by lamentations and mournful chants but by hymns, for in ceasing

to be numbered with mortals he anters upon the heritage of a diviner life."

Above is a debt we owe to the departed and to ourselves. We must, however, realise that in all His Dispensations God is at work for our good : in prosperity, he tries our gratitude; in mediocrity, our contentment; in misfortune, our submission; in darkness, our faith; in temptation, our steadfastness and at all times, our obedience and trust in him. God governs the world and we have only to do our duty to ourselves and leave the rest to him.

Om, Shanti, Shanti, Shanti :

500TH BIRTHDAY OF SHRI GURU NANK DEVJI

A DEDICATION

Following is Guru Nanak's Concept of True Muslim :

Make benevolence your mosque,
Faith (in god) your prayer mat,
Truthful and honest living your Quran,
Humility your circumcision and
Civility your fasting
Thus you will become a true Muslim.
Let noble conduct be your Kaaba,
Truth be your spiritual guide :
Good deeds be your creed and your prayer;
God's will be your rosary;
God will preserve your honour, Sayeth Nanak.

Five Prayers of Muslims Are Defined Thus :

Muslims offer five prayers (a day),
These are known by different names,
Let truth be your first prayer.
Honest living the second one, and
Supplication of common weal to God, the third.
Let good intentions at heart be the fourth one,
And praises of the Almighty, the fifth.
Offer thus, the prayers of noble deeds
And be known a true Muslim.
All the rest are false Muslims Sayeth Nanak,
And they achieve nothing but falsehood.

Guru Nanak Defines a True Brahmin Thus :

He is a true Brahmin who realises God,
Who performs deeds of devotion, penance and self-restraint;
And who observes the religion of civility and contentment;
And who sheds the shakles of worldly restraints;
Such a Brahmin is worth of worship.

About Kashtrya, Guru Nanak Sayeth :

He is a true Khatri
Who is a hero of good actions;
Who is an embodiment of charity;
Yet bestows his benedictions on deserving ones.
Such Khatri finds recognition in God's court.
A Khatri who practises greed, convetousness and falsehood,
Shall suffer for his misdeeds.

Defining The Sacred Thread (Janeu) of the Hindus Guru Nanak Sayeth :

Make mercy the cotton,
Contentment the thread,
Continence its knots
And Truth its twists.
If you have it, O Brahmin,
Put it on me.

To one and all Guru Nanak gave the message of service, meditation on God and truthful living He Sayeth :

"They serve Thee well who are contented
And who meditate on the Truest of True.
They tread not upon the path of evil,
They do noble deeds and practise honesty.
They break the fetters of mundane love
And are frugal in the matter of victuals.
To them thy blessings are bountiful and over-increasing,
And through adoration they have realised the Almighty."
And again :
Diverse are the dogmas,
Many are the interpretations of Vedas,
Numerous are the fetters of the soul;
Salvation is obtained through God's instructions.
Truth is highest of all;
Yet truthful living is higher still.

Inserted by—**Director, Public Relations, Punjab**

★ सत्साहित्य पढ़िये ★

१. माण्डूक्य-प्रवचन (आगम-प्रकरण)	६.००
२. माण्डूक्यकारिकाप्रवचन [वैतथ्य-प्रकरण]	५.००
३. श्रीमद्भागवत-रहस्य	२.५०
४. भक्ति-सर्वस्व	५.००
५. भगवान्‌के पाँच अवतार	२.०० (अप्राप्य)
६. ईशावास्य-प्रवचन	१.२५ („)
७. सांख्ययोग	५.०० („)
८. भक्तियोग	४.५० („)
९. पुरुषोत्तमयोग	२.५०
१०. ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना	६.५०
११. गोपीगीत	३.५०
१२. भागवत-विचार-दोहन	१.००
१३. नारद-भक्ति-दर्शन	६.००
१४. महाराजश्रीका एक परिचय	०.५०
१५. मुण्डकसुधा	२.५०
१६-१७. आनन्द-वाणी भाग १-२	०.५०प्रति (अप्राप्य)
१८-२५. आनन्दवाणी भाग ३-१०	१.००प्रति
२६. महाराज श्रीका एक परिचय [सिन्धी]	०.२५
२७. मोहन नी मोहनी [गुजराती]	०.६०
२८. चरित्र-निर्माण आणि ब्रह्मज्ञान [मराठी]	१.००
२९. श्रीमद्भागवत-रहस्य [सिन्धी]	२.००
३०. साधना और ब्रह्मानुभूति	३.५०
३१. गोपियोंके पाँच प्रेमगीत	०.२०
३२. श्री उड़ियाबाबाजी और मोकलपुरके बाबा	०.२०
३३. ज्ञान-निर्झर (श्री डोंगरेजी महाराज)	०.२०
३४. क्या साधु कुछ राष्ट्रसेवा कर सकते हैं !	०.१०
३५. अपरोक्षानुभूति-प्रवचन	४.५०

★

निम्न लिखित पतेपर पत्र लिखकर अपनी रुचिकी पुस्तकें मँगाइये ।

सत्साहित्य-प्रकाशन-ट्रस्ट

'विपुल' २८/१६ रिजरोड, मलाबार हिल, बम्बई-६

रजि० सं० एल० ६९९

सत्साहित्य-प्रकाशनट्रस्ट, बम्बईके लिए विश्वम्भरनाथ द्विवेदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा आनन्दकानन प्रेस, सीके. ३६/२० वाराणसीसे मुद्रित।